जॉन होल्ट

असफल स्कूल

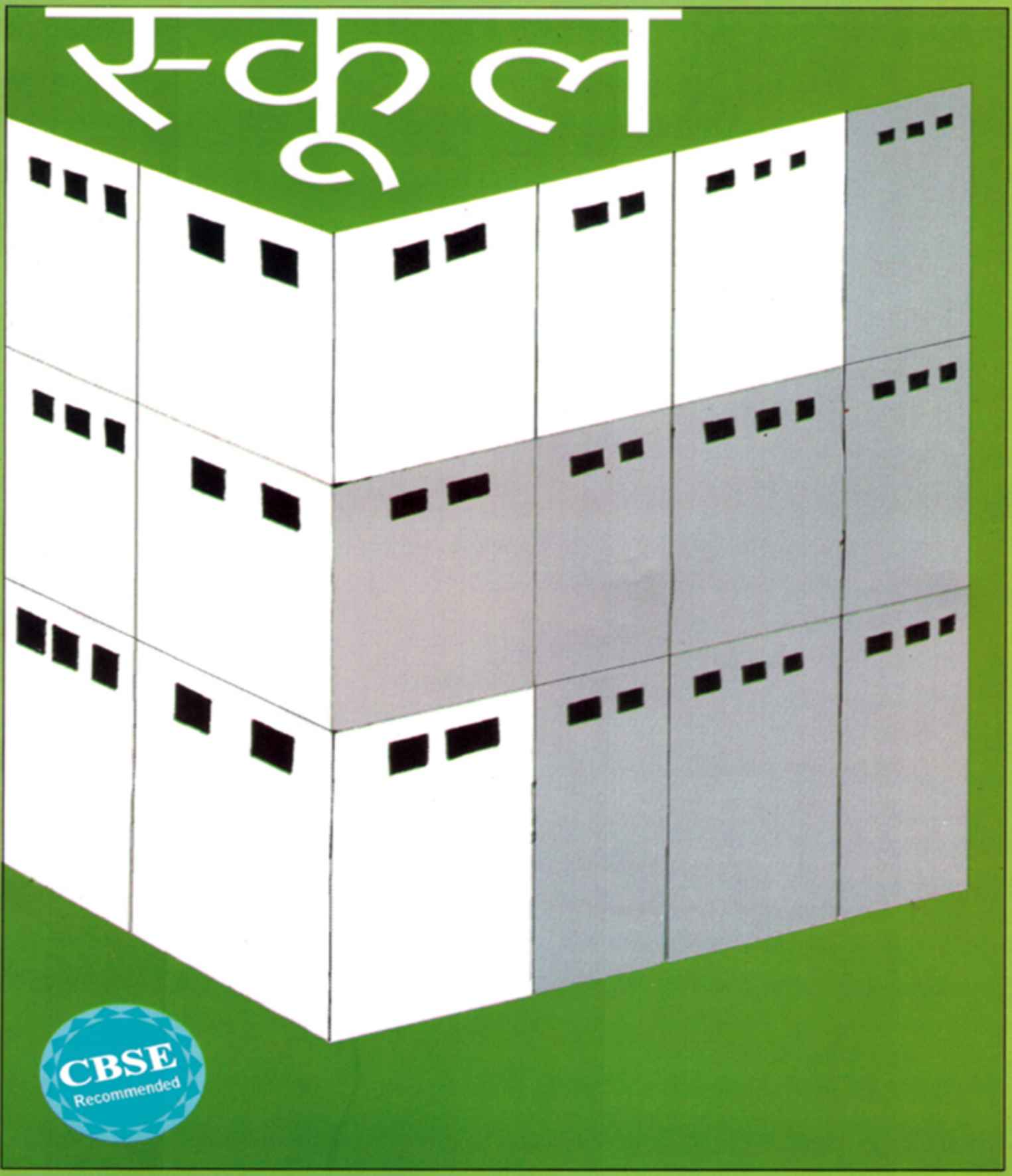

CBSE Recommended

एकलव्य का प्रकाशन

असफल स्कूल

जॉन होल्ट
अँग्रेज़ी से अनुवाद
अरविन्द गुप्ता

एकलव्य का प्रकाशन

जनगण सिंह श्याम

असफल स्कूल

Asaphal School

लेखक : जॉन होल्ट

मूल पुस्तक *The Under-Achieving School* का अँग्रेज़ी से अनुवाद : अरविन्द गुप्ता

आवरण चित्र : रुस्तम सिंह

आवरण आकल्पन : कनक शशि

संस्करणः जून 2006 / 3000 प्रतियाँ

पहला पुनर्मुद्रणः सितम्बर 2010 / 3000 प्रतियाँ

दूसरा पुनर्मुद्रणः जुलाई 2017 / 1000 प्रतियाँ

तीसरा पुनर्मुद्रणः मई 2019 / प्रतियाँ

कागज़ः 80 gsm नेचुरल शेड एवं 300 gsm आर्टकार्ड कवर

पराग इनिशिएटिव, टाटा ट्रस्ट मुम्बई के वित्तीय सहयोग से विकसित

ISBN 978-81-87171-77-4

मूल्यः ₹ 135.00

प्रकाशकः **एकलव्य फाउंडेशन**

जमनालाल बजाज परिसर

फॉर्च्यून कस्तूरी के पास, जाटखेड़ी,

भोपाल - 462 026 (मप्र)

फोनः +91 755 - 297 7770, 71, 72, 73

www.eklavya.in / books@eklavya.in

मुद्रकः भण्डारी ऑफसेट प्रिंटर्स, भोपाल, फोनः +91 755 246 3769

विषयवस्तु

प्रस्तावना	5
सच्ची सीख	9
थोड़ी-सी सीख	11
स्कूल बच्चों के लिए खराब जगह है	19
चूहा-दौड़	36
शिक्षक बहुत ज़्यादा बोलते हैं	46
परीक्षण का आतंक	52
सुनहरे नियमों वाले दिन ढले	67
बच्चों में पढ़ने के प्रति नफरत पैदा करना	74
व्यवस्था और अव्यवस्था	88
असम्भव पढ़ाई को पढ़ाना	95
भविष्य के लिए शिक्षा	101
ब्लैकबोर्ड की गड़बड़	127
जेल में बच्चे	132
गम्भीर समस्या का मज़ाकिया सच	149
व्याख्यान	155
पत्र	184

जॉन होल्ट (1923-1985)

प्रस्तावना

हाल के वर्षों में मुझे बहुत से पालकों और शिक्षकों से बातचीत करने का मौका मिला है। इससे मुझे लगता है कि इस पुस्तक में — इसके विचारों, प्रश्नों और टिप्पणियों में — उनकी गहरी रुचि होगी। इस पुस्तक में उन छोटे-छोटे लेखों को संकलित किया गया है जो पहले किसी पत्रिका या किताब में छप चुके हैं। कुछ लेखों में मैंने थोड़ी-बहुत काट-छाँट भी की है और कुछ को दुबारा लिखा है, परन्तु कुछ लेख अपने मूल रूप में ही हैं। यह संकलन भिन्न-भिन्न कारणों से बहुत से लोगों के लिए उपयोगी होगा, इसलिए इसे जल्दी-से-जल्दी उपलब्ध कराना भी ज़रूरी है।

हमारे बहुत से स्कूलों, उनसे जुड़े लोगों और अन्य कई बातों में बहुत तेज़ी से परिवर्तन आ रहा है। मेरे भी विचार बदल रहे हैं। इसलिए जहाँ कहीं मुझे अपनी सोच या शिक्षा में कोई महत्वपूर्ण बदलाव नज़र आया है वहाँ-वहाँ मैंने इन लेखों में एक छोटी-सी टिप्पणी जोड़ दी है।

सेंटर फॉर द स्टडी ऑफ डेमोक्रैटिक इंस्टीट्युशन्स, डबलडे, *हारपर्स मैगज़ीन*, *लॉइफ*, *न्यू यॉर्क रिव्यू ऑफ बुक्स*, *न्यू यॉर्क टाइम्स मैगज़ीन*, *द पी टी ए मैगज़ीन*, *रेडबुक*, *स्टरलिंग इंस्टीट्यूट*, और *येल एलुम्नाई मैगज़ीन* का मैं शुक्रिया अदा करना चाहूँगा क्योंकि इन्होंने ही ये लेख सबसे पहले छापे थे और इनके ही सहयोग से लेखों के इस संकलन को छापना सम्भव हो पाया है।

जॉन होल्ट
बर्कले, कैलिफोर्निया

— 1969

प्रश्न : (न्यू यॉर्क शहर की पत्रिका *एज्युकेशन न्यूज़* के सम्पादकों द्वारा) "अमरीका के स्कूलों को यदि इस साल एक बेहतर कल की ओर एक बड़ा कदम उठाना हो, तो वह क्या होना चाहिए?"

उत्तर :

"वह कदम होगा हरेक बच्चे को यह अधिकार देना कि वह अपनी शिक्षा को खुद नियोजित करे, खुद निर्देशित करे, और खुद ही उसका मूल्यांकन करे। उसे इस बात की अनुमति देना और इसके लिए प्रोत्साहित करना कि वह विशेषज्ञों और ज़्यादा अनुभवी लोगों की प्रेरणा और मार्गदर्शन से खुद तय करे कि उसे क्या सीखना है, कब सीखना है, कैसे सीखना है, और वह उसे कितनी अच्छी तरह से सीख रहा है। इसमें जितनी मदद वह माँगता है वह उसे देना।

"इस कदम के तहत यह भी किया जाएगा : हमारे स्कूलों को, जो इस समय बच्चों के लिए जेल हैं, मुक्त और स्वतंत्र शिक्षा के साधनों में बदल देना। समुदाय का हर व्यक्ति, उसकी उम्र जो भी हो, इनका ज़्यादा या कम, जितना चाहे उपयोग करे।"

जॉन होल्ट

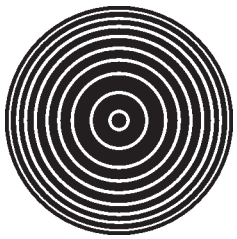

सच्ची सीख

सच्ची सीख – सीख जो स्थायी और उपयोगी हो, जिससे हम समझदारी के काम कर सकें और आगे भी सीख सकें – केवल सीखने वाले के अनुभवों, रुचियों और सरोकारों में से पैदा हो सकती है।

हरेक बच्चे में, बिना किसी अपवाद के, अपनी दुनिया को समझने की एक असीमित, अन्दरूनी ललक होती है और वह इस दुनिया में सक्षम बनना चाहता है, उसमें स्वतंत्रता चाहता है। जो बातें सच में बच्चे की समझ, खुशी, विकास की क्षमता और उसमें अपनी स्वतंत्रता के अहसास और स्वाभिमान को बढ़ाती हैं, उन्हीं को हम सच्ची शिक्षा कह सकते हैं।

शिक्षा वह चीज़ है जिसे हर व्यक्ति अपने लिए खुद हासिल करता है। वह कोई ऐसी चीज़ नहीं जो कोई दूसरा उसे देता है या दे सकता है।

नवयुवकों को अपनी शिक्षा से जिस चीज़ की ज़रूरत है और जो वे उससे चाहते हैं, वह यह है : पहले, अपने आसपास की दुनिया को बेहतर ढंग से समझना; दूसरे, अपने आपको विकसित करना; तीसरे, ऐसे काम कर पाना जिनमें वे अपनी विशेष रुचियों और कुशलताओं का इस्तेमाल

करके अपने आसपास की दुनिया की असली समस्याओं से जूझ सकें और इंसानियत का भला कर सकें।

हमारा समाज चाहता है कि स्कूल बच्चों के लिए और उनके बारे में तीन चीज़ें करेः पहली, उन्हें हमारी परम्पराओं और संस्कृति के उच्च मूल्यों को सिखाना; दूसरी, बच्चे जिस दुनिया में जीते हैं उससे उन्हें अवगत कराना; तीसरी, बच्चों को किसी रोज़गार और यदि सम्भव हो सके तो सफलता के लिए तैयार करना। परम्परागत तौर पर इन सभी ज़िम्मेदारियों को समाज और समुदाय ने स्वयं ही निभाया है। इनमें से एक भी काम स्कूल अच्छी तरह नहीं करता है। ये काम न तो स्कूल को कभी अकेले करने चाहिए और न ही यह उसके अकेले के बस की बात है। अगर आज स्कूल मुश्किल में हैं तो उसका कारण यह है कि उन्हें बहुत से ऐसे काम सौंप दिए गए हैं जिनपर उनका सर्वाधिकार है ही नहीं।

स्कूल एक साधन हो, परन्तु एकमात्र साधन नहीं; एक ऐसा साधन, जहाँ से बच्चे, और केवल बच्चे ही नहीं, अपनी सतत् शिक्षा के लिए जिस चीज़ की उन्हें ज़रूरत हो और जो चाहें ले सकें। स्कूल ऐसी जगह हो जहाँ जाकर लोग वह सब खोज सकें जो वे खोजना चाहते हैं और अपनी उन कुशलताओं को विकसित कर सकें जिन्हें वे विकसित करना चाहते हैं। अगर बच्चा खुद को शिक्षित कर रहा है, क्योंकि कोई और उसे शिक्षित नहीं करेगा, तो वह स्कूली संसाधनों को, किसी वयस्क की ही भाँति, जब और जैसे वह चाहे इस्तेमाल करने के लिए स्वतंत्र हो। शिक्षा की अनन्त राहें हैं; सीखने वाला अपना पथ खुद खोजने, चुनने, बनाने के लिए पूरी तरह स्वतंत्र हो।

बच्चे चाहते हैं कि वे जल्दी-से-जल्दी समाज में किसी-न-किसी रूप में उपयोगी हों। हमें उन्हें इस बात के मौके देने चाहिए। अगर कोई बच्चा या वयस्क समाज के लिए कोई उपयोगी काम करना चाहता है तो उसे उससे वंचित रखना इंसानियत के ख़िलाफ एक अपराध होगा। दरअसल, शिक्षा और काम के बीच यह विरोध जो हमने पैदा कर दिया है, एकदम मनमाना, अवास्तविक और हानिकारक है।

जब तक बच्चों की सीखने और अपने आपको विकसित करने की ललक तथा क्षमता में हमारा विश्वास नहीं होगा, तब तक उनकी सहायता करना तो दूर, हम उनकी शिक्षा को नुकसान ही पहुँचाएँगे।

— 1968

थोड़ी-सी सीख

आजकल शिक्षा के प्रसिद्ध चिन्तकों से हमें जानने और सीखने के सिद्धान्त के बारे में सुनने को मिलता है। मुझे लगता है कि यह सिद्धान्त एक ओर जहाँ सच्चा और उपयोगी है, वहीं इसमें कुछ बुनियादी गलतियाँ भी हैं। सरल शब्दों में इस सिद्धान्त का सार इस प्रकार है। बच्चे के सीखने और जानने की प्रक्रिया तीन चरणों में से गुज़रती है। पहले चरण में वह केवल वही जानता है जिसे वह महसूस करता है; वह केवल अपने बिल्कुल समीप की वास्तविकता से ही अवगत होता है। दूसरे चरण में वह अपनी इन्द्रियों के बोध से दुनिया को अपनी स्मृति में समेटकर उसका एक मानसिक मॉडल बनाता है। इस मॉडल के कारण ही बच्चा उन तमाम चीज़ों के अस्तित्व के बारे में जान पाता है जो उसकी इन्द्रियों के एकदम समीप नहीं हैं। सीख के तीसरे और सबसे विकसित चरण में बच्चा दुनिया के बारे में अपनी समझ को शब्दों और प्रतीकों में व्यक्त कर पाता है। इन प्रतीकों में कुछ सर्वमान्य व तार्किक नियमों के आधार पर अदल-बदल कर वह, कई परिस्थितियों में, असली दुनिया के बारे में अनुमान लगा पाता है।

पियाजे के प्रयोगों में से अगर हम एक साधारण किस्म का उदाहरण लें तो यह बात अधिक साफ हो जाएगी। इस प्रयोग का वर्णन जेरोम ब्रूनर ने किया है।

• एक पाँच वर्ष के बच्चे के सामने दो बीकर रखें, जिनमें पानी का स्तर एक ही हो। बच्चा दोनों को समान बताएगा। अब एक बीकर के पानी को ऐसे पारदर्शी बर्तन में डालें जो ऊँचा और संकरा हो, और फिर पूछें कि क्या दोनों में समान मात्रा में पानी है। बच्चा इससे इंकार करेगा और संकरे बर्तन की ओर इशारा करके कहेगा, "क्योंकि इसमें पानी ऊँचा है।" बच्चे जो कुछ देखते हैं उससे बेवकूफ बन जाते हैं, क्योंकि जो कुछ भी वे देखते हैं उसी के आधार पर उन्हें चलना होता है। परन्तु थोड़े बड़े बच्चे इस तरह बेवकूफ नहीं बनते। वे कहते हैं कि दोनों बर्तनों में पानी की मात्रा एक समान है, और जो वे देख रहे हैं उसकी इन शब्दों में व्याख्या करते हैं, "यह देखने में ज़रूर कुछ अलग लगता है परन्तु असल में ऐसा नहीं है," या फिर, "वह ऊँचा दिखता है, पर असल में वो उसके संकरा होने के कारण है", आदि। •

हमें बताया जाता है कि बड़े बच्चे ऐसा इसीलिए कह पाते हैं क्योंकि उन्होंने इस समस्या को शब्दों के सूत्रों से हल करना सीख लिया है, कि अब वे जो कुछ भी देखते हैं उससे बेवकूफ नहीं बनते हैं। "भाषा सिर्फ तात्कालिक भ्रमों के आधार पर निर्णय लेने से बच निकलने का साधन प्रदान करती है।"

हाँ, वह ऐसा ही करती है। या, कम से कम, कर सकती है। पर वह कुछ बेतुकी बातें कह पाने के साधन भी प्रदान कर सकती है। सदियों से लोग कहते आए हैं कि क्योंकि भार के कारण ही कोई वस्तु नीचे गिरती है इसलिए भारी चीज़ों को, हल्की चीज़ों की तुलना में, अधिक तेज़ी से नीचे गिरना चाहिए। जब हम शब्द प्रतीकों में हेर-फेर के आधार पर वास्तविकता के बारे में अनुमान लगाने लगते हैं तो कई बार सच्चाई की बजाय निरर्थक नतीजों पर पहुँच जाते हैं।

बहुत से शैक्षिक सिद्धान्त पियाजे के सिद्धान्तों से गहरा सम्बन्ध रखते हैं। उनमें कहाँ गलती है इसे समझने के लिए पियाजे के एक सरल प्रयोग को देखना चाहिए। उन्होंने एक छोटे बच्चे के सामने बराबर लम्बाई की दो छड़ें रखीं। दोनों छड़ों के सिरे एक-दूसरे को छू रहे थे। फिर उन्होंने बच्चे से पूछा कि उनमें से कौन-सी छड़ लम्बी है, या कि फिर वे समान लम्बाई की हैं। बच्चा छड़ों को समान लम्बाई की ही बताता है। फिर पियाजे ने

एक छड़ हटाई जिससे दोनों छड़ें अब एक-दूसरे से दूर हो गईं, और उन्होंने दुबारा वही प्रश्न पूछा। इस बार बच्चे ने उनमें से किसी एक छड़ को लम्बा बताया। इससे पियाजे को लगा कि बच्चे की नज़र में एक छड़ लम्बी हो गई है। इससे वे इस नतीजे पर पहुँचे कि एक विशेष उम्र से कम के बच्चे लम्बाई के संरक्षण के नियम को समझने में असमर्थ होते हैं। लेकिन जो बात पियाजे समझ नहीं पाए या जिसकी कल्पना वे नहीं कर पाए वह यह थी कि उस सवाल को बच्चे ने और खुद उन्होंने शायद अलग-अलग ढंग से समझा था। बच्चा "लम्बे" शब्द से आखिर क्या समझता है? इसका अर्थ होता है *वह जो बाहर निकले*। "कौन-सा लम्बा है?" इस प्रश्न के सही *अर्थ* को बच्चा बहुत से अनुभवों के बाद ही समझ पाता है। इसका अर्थ होता है : "अगर छड़ों को एक सिरे से बराबर करके, सटाकर रखा जाए तो किस छड़ का दूसरा सिरा बाहर निकलता है?" बहुत से प्रश्नों, जैसे "कौन-सा लम्बा है?", का अर्थ उनका उत्तर दिए जाने के तरीके पर निर्भर करता है। अगर आपको यह तरीका नहीं मालूम है तो आप प्रश्न के अर्थ को भी नहीं समझ पाएँगे।

संरक्षण से जुड़े बहुत से प्रयोग, और कई अन्य अवधारणाएँ भी इसी तरह की गलतियों की शिकार हैं। पहले बच्चे को मिट्टी का एक बड़ा लौंदा दिखाया जाता है। फिर प्रयोगकर्ता उसे तोड़कर उससे कई छोटे लौंदे बनाता है, या उससे एक लम्बा सिलेण्डर बनाता है। वह मिट्टी के बड़े लौंदे का रूप बदलता है, फिर बच्चे से पूछता है कि मिट्टी पहले से ज़्यादा है, कम है, या उतनी ही है। (जब इस प्रयोग पर आधारित फिल्म कुछ मनोवैज्ञानिकों और शिक्षाविद्‌ों को दिखाई गई तो किसी ने भी यह कहने की ज़रूरत महसूस नहीं की कि बच्चा अधिकांश समय मिट्टी के लौंदे की ओर नहीं, बल्कि प्रयोगकर्ता के चेहरे को देखकर सही, वांछित उत्तर खोज रहा था।) बच्चे ने हर बार एक ही जवाब दिया, "ज़्यादा"। सैद्धान्तिक लोग कहेंगे, "वाह! वह ज़्यादा इसलिए कहता है क्योंकि उसे देखने में वह ज़्यादा लगती है।" परन्तु एक छोटे बच्चे के लिए "क्या यह अधिक है?" का *मतलब* होता है, "क्या यह देखने में अधिक लग रही है?" भला इसके अलावा इसका और क्या अर्थ *हो सकता है?* इस चरण में बच्चे के अनुभव बहुत कम होते हैं और वह सामने की चीज़ से परे देखने में असमर्थ होता है।

मैंने कई बार सोचा है: संरक्षण के बारे में छोटे बच्चे अगर सच में वही सोचते जो पियाजे के अनुसार वे सोचते हैं तो इस ज्ञान का वे किस प्रकार

इस्तेमाल करते? अच्छी चीज़ों — खिलौनों, मिठाई, केक या शर्बत के गिलास — की मात्रा अधिक दिखाने के लिए क्या बच्चे उन्हें बाँटते और फैलाते? पर बच्चे मिठाई के छोटे-छोटे टुकड़े नहीं करते, और न ही वे शर्बत को कई गिलासों में डालते हैं। अगर वे सच में कुछ करते हैं तो बिल्कुल इसका उलटा — वे तमाम चीज़ों को इकट्ठा करके उनका एक बड़ा ढेर बनाते हैं। मैंने अपने आपसे यह प्रश्न भी पूछा — किस प्रकार के अनुभवों से बच्चे तरल संरक्षण के नियम के बारे में जान पाएँगे? आप केवल उतना ही पेय पी पाएँगे जितना वह होगा, चाहे आप उसे किसी भी बर्तन में क्यों न डालें। इस बात को आप किस प्रकार सीखेंगे? अगर शर्बत कम मात्रा में हो और आप उसकी हरेक चुस्की को धीरे-धीरे मज़ा लेते हुए पिएँ तो शायद आप यह सीख जाएँ। इसीलिए जब मुझे बताया गया कि अफ्रीका के रेगिस्तानी देशों में तरल संरक्षण के प्रयोग को बच्चों ने बहुत कम उम्र में ही समझ लिया, तो इसमें मुझे बिल्कुल आश्चर्य नहीं हुआ। जैसे कि लोग कहते हैं, यह बात समझ में आती है। असल में संरक्षण के सिद्धान्त के कई पहलुओं को सभी बच्चे उन्हें बोलकर शब्दों द्वारा सीखने से पहले ही सीख जाते हैं। कुछ लोगों के अनुसार छोटे बच्चे अपनी इन्द्रियों से ही बेवकूफ बन जाते हैं क्योंकि उनके पास एक स्थायी दुनिया निर्मित करने के लिए शब्द नहीं होते। परन्तु जिस दुनिया को बच्चे और हम बड़े भी देखते हैं, उसमें प्रत्येक वस्तु, जैसे ही हम जगह बदलते हैं, अन्य वस्तुओं के सापेक्ष अपना आकार, माप और स्थिति बदल लेती है। बच्चे को सारी दुनिया रबड़ की बनी हुई लगती है। परन्तु तीन-चार साल के, या उससे भी छोटे बच्चे इतना ज़रूर समझते हैं कि रबड़ जैसी दिखाई देने वाली दुनिया वास्तविक दुनिया नहीं है। वे यह अच्छी तरह जानते हैं कि उनसे दूर जाती हुई उनकी माँ सिकुड़ती नहीं है। पियाजे और अन्य लोग जिस समझ का परीक्षण कर रहे थे उससे यह समझ कहीं अधिक सूक्ष्म होती है।

इस बुनियादी गलती से कि समझ मूलरूप से शाब्दिक और सांकेतिक होती है और सोचने का मतलब, कम से कम उसके विकसित रूप में, इन संकेतों और प्रतीकों के संचालन में कुशलता हासिल करना होता है, कई और गलतियाँ पैदा होती हैं जो केवल कक्षा तक ही सीमित नहीं रहतीं। हम चीज़ों के किसी समूह को एक ही लेबल दे देते हैं क्योंकि किसी एक परिस्थिति में उनके महत्वपूर्ण गुणधर्मों में समानता होती है। और फिर यह मान लेते हैं कि वे चीज़ें स्थायी रूप से और हर प्रकार से समरूप बनी

रहेंगी। ऐसा सोचने से हम वास्तविकता से बहुत परे चले जाते हैं, और बहुत मुश्किल में फँस जाते हैं। मिसाल के लिए हम अपनी विदेश नीति को ही लें जिसका आधार अभी भी यही है कि सभी कम्यूनिस्ट एक जैसे होते हैं, यानी जोज़ेफ स्टालिन जैसे, और सदा वैसे ही बने रहते हैं। हम सोचते हैं, खास तौर पर कक्षा में, कि सभी अनुभवों, अन्तर्दृष्टियों और हर प्रकार की समझ को एक व्यक्ति किसी दूसरे को केवल शब्दों द्वारा ही सिखा सकता है। हम हमेशा ज़ोर से बोलकर ही लिखित सामग्री की व्याख्या करते हैं। पर सभी अनुभवी शिक्षक इस बात को अच्छी तरह जानते हैं कि हमारे शब्द बच्चों की समझ बढ़ाने की बजाय उन्हें उलझाते अधिक हैं। कक्षा में ऐसे बेशुमार बच्चे होते हैं जो शब्दों पर विश्वास खो चुके होते हैं, और शब्दों का मतलब निकालने की अपनी क्षमता पर भी। और जब तक उनसे कुछ नकल करने के लिए नहीं कहा जाए, वे कक्षा में खाली बैठे रहते हैं।

एक बात हमें हमेशा याद रखनी चाहिए। शब्द मालगाड़ी के डिब्बों जैसे होते हैं। उनमें गैर-शाब्दिक ज़िन्दगी से सरोकार रखने वाली, अर्थ से भरी चीज़ें हो सकती हैं अथवा नहीं। जब हमें अर्थ से भरे शब्द सुनने को मिलते हैं तो हम उनसे दुनिया का एक ज़्यादा सही, ज़्यादा पूर्ण, बिना शब्दों वाला मानचित्र गढ़ पाते हैं। बाकी शब्द हमारे दिमाग में सिर्फ मँडराते रहते हैं। हम उन्हें थूक सकते हैं या नियमों के अनुसार उन्हें उलट-पलट सकते हैं परन्तु वे वास्तविकता की हमारी समझ पर कोई असर नहीं डालते। स्कूल की एक दुखदाई बात यह है कि बच्चे वहाँ जो भी शब्द सुनते हैं उनमें गैर-शाब्दिक अर्थ ज़रा भी नहीं होता, और इस तरह वे उनकी असली समझ को बिल्कुल भी नहीं बढ़ाते। उलटा बच्चे उनसे और उलझन में पड़ जाते हैं। शब्दों की लफ्फाज़ी को बच्चे समझ मान बैठते हैं। यह बहुत ही खतरनाक भ्रम है। रॉबर्ट फ्रॉस्ट ने अपनी कविता "एट वुडवर्ड्स गार्डन्स" में कहा है: "महत्व इस ज्ञान का है कि चीज़ों के साथ क्या करना है।" सैद्धान्तिक व्यक्ति, उनके सिद्धान्त चाहे कितने भी विद्वत्तापूर्ण हों, उनके समीकरण चाहे कितने ही सटीक हों, बेसबॉल के खेल में गेंद की गति और परिपथ को कार्ल यैसट्रैमस्की या विली मेइज़ जैसे मँजे हुए खिलाड़ियों से बेहतर नहीं जान सकते। उनके पास शब्द और आँकड़े भले ही हों, परन्तु खिलाड़ी के पास एक मॉडल होता है जो असल में काम करता है, जो उसे बताता है कि हवा में उछलती गेंद कहाँ पर जाकर गिरेगी — और वास्तव में यही सच्चा ज्ञान है।

इधर के पाठ्यक्रम सुधारकों के बीच आजकल जो एक उक्ति प्रचलित है वह है "अवधारणा का निर्माण"। इस पर कई अलग-अलग मत हैं। पुराने विचारों के लोगों के अनुसार बच्चों को तथ्य सिखाने चाहिए क्योंकि जब वे बहुत सारे तथ्य जान लेंगे तभी वे अवधारणाएँ बना पाएँगे या उनके बारे में सोचना सीख पाएँगे। परन्तु सुधारकों के अनुसार अवधारणाओं को सीधे सिखाना चाहिए। सुधारकों को इन दोनों तरीकों में एक मूल अन्तर लगता है, परन्तु असल में ऐसा है नहीं। दोनों ही समूह बच्चों के दिमाग में शब्दों की माला बोने में लगे हैं। सुधारकों के अनुसार शब्दों की कुछ मालाएँ, बाकियों की तुलना में, अधिक महत्वपूर्ण होती हैं, यानी विचारों में भी श्रेणीबद्धता होती है। कुछ विचार मास्टर-विचार होते हैं। वे प्रमुख होते हैं और मास्टर-चाभी की तरह ही उनसे इमारत के सारे दरवाज़े खुल जाते हैं। इन मास्टर-विचारों को जानने के बाद छात्र अन्य किसी भी चीज़ को आसानी से खोज या समझ सकता है। यह अवधारणा काफी तर्कसंगत और आकर्षक लगती है। परन्तु सुधारक, बहुत से ईमानदार शिक्षकों की तरह, एक बात भूल जाते हैं कि हरेक इंसान को अपने हालात के अनुसार खुद अपनी मास्टर-चाभी बनानी होगी। हरेक व्यक्ति को अपने खास तरीके से दुनिया को समझना होगा, और कोई भी दो लोग इस काम को एक तरीके से नहीं करेंगे। अगर समाजशास्त्र के किसी नए पाठ्यक्रम निर्माताओं का बस चले तो एक दिन देश में छठी कक्षा के सभी बच्चे यह कह पाएँगे कि मनुष्य इंसान इसलिए बने क्योंकि उनके अँगूठे की बनावट ऐसी है कि वह उँगलियों के सामने आ सकता है जिससे चीज़ों को पकड़ना सम्भव हो पाता है, क्योंकि उनके पास औज़ार होते हैं, भाषा होती है जिसमें शब्दों का क्रम अर्थ को प्रभावित कर सकता है, इत्यादि। इन विशेषज्ञों के अनुसार शब्द-मालगाड़ियों के इन डिब्बों में ढेर सारे, आपस में जुड़े हुए, अर्थ लदे होते हैं। इन सबसे शायद छात्रों की सूची में कुछ अन्य अर्थ और जुड़ जाएँ – ऐसी चालू किस्म की उक्तियाँ जो बच्चे परीक्षा में लिख देते हैं, और शिक्षक मान लेते हैं कि वे पाठ्यक्रम को समझते हैं। परन्तु असल में ये उक्तियाँ एकदम अर्थहीन होती हैं।

सिद्धान्तकारों और सुधारकों दोनों को अभी तक यह नहीं पता है कि कक्षाएँ बच्चों को कैसी लगती हैं और उनमें आखिर होता क्या है। एक काबिल और समझदार गणितज्ञ डेविड पेज के अनुसार "जब बच्चे गलत उत्तर देते हैं तो अक्सर उसका मतलब यह नहीं होता है कि वे गलत हैं, बल्कि यह कि वे किसी अन्य प्रश्न का उत्तर दे रहे होते हैं..." असल में यह तो सच्चाई की बस शुरुआत है। कभी-कभी बच्चे गलत उत्तर इसलिए

देते हैं क्योंकि वे प्रश्न ही नहीं समझ पाते हैं। परन्तु अधिकांश बार समस्या इससे कहीं अधिक जटिल होती है। ऐसा नहीं है कि उन्हें प्रश्न समझ में ही नहीं आया हो, बल्कि उन्हें प्रश्न की प्रकृति और उसका उद्देश्य ही समझ में नहीं आता है। ऐसा नहीं कि कभी-कभी बच्चे गलत प्रश्नों के उत्तर भी देते हैं; वास्तव में कई बार उनके उत्तर *किसी* वास्तविक समस्या से जुड़े हुए ही नहीं होते। कोई भी प्रश्न किसी समस्या की ओर ध्यान खींचता है; ज़्यादातर बच्चों के साथ इससे ठीक उलट होता है – प्रश्न बच्चों का ध्यान समस्या से दूर हटाता है, और उन्हें किसी हल को खोजने या चोरी करने के जटिल तरीकों की ओर उकसाता है। पर हमें इससे भी परे देखना चाहिए; सच्चाई तो यह है कि स्कूल में बच्चे जो भी उत्तर देते हैं उन्हें खुद भी उनके सही होने की उम्मीद नहीं होती। बल्कि कभी-कभी बच्चे खुद चाहते हैं कि उनके उत्तर सही न हों। बच्चे अँधेरे में बिना सिर-पैर के तुक्के लगाते हैं, या जानबूझकर गलत उत्तर देते हैं। इसका एकमात्र उद्देश्य होता है समस्या से दूर भागना या जानबूझ कर फेल होना, ताकि उन्हें बेकार और उबाऊ काम करने का दुख और अपमान न झेलना पड़े।

अगर शिक्षा के नए सुधारकों को अभी भी धुँधला दिख रहा है तो इसका कारण यह नहीं कि उनकी आँखें खराब हैं, बल्कि इसके दो अन्य कारण हैं। पहला तो यह कि बारीकी से देखने से पहले ही वे बोलने लगते हैं, और उनके सिद्धान्त खुद उनकी और दूसरों की आँखों के सामने पर्दा बन जाते हैं। उनकी नज़र को धुँधला कर देते हैं। दूसरा, स्कूलों के साथ उनका सम्पर्क इतना विशिष्ट और कृत्रिम होता है कि वास्तव में उन्हें पता ही नहीं होता कि स्कूल कैसी चीज़ है। कुल मिलाकर केवल सफल और आत्मविश्वासी स्कूल ही इन ऊँचे ओहदों वाले आगन्तुकों को अपने परिसरों में घुसने की इजाज़त देते हैं। फिर वह उन्हें अपनी "सबसे अच्छी" कक्षाओं का दौरा कराते हैं जहाँ पूर्व-तैयारी के कारण शिक्षक और बच्चे अच्छा शो पेश करते हैं। आगन्तुकों के खुद पढ़ाने का काम भी एकदम कृत्रिम होता है। छात्रों के ऊपर उनका कोई वश नहीं होता, न ही वे छात्रों को कोई पुरस्कार या सज़ा दे सकते हैं। किसी आगन्तुक को कक्षा में देखकर बच्चे उतना ही खुश होते हैं जितना घर में भोजन पर आए किसी मेहमान को देखकर। कुछ समय के लिए वे खुद को सुरक्षित महसूस करते हैं। अतिथि उन्हें किसी मुश्किल में तो नहीं डाल सकता है, और उसके वहाँ रहने तक उनकी बाकी समस्याएँ भी अपना सिर नहीं उठाएँगी। इसलिए जब सुधारक स्कूल में जाकर बच्चों को बौद्धिक खेल खेलने के लिए

आमंत्रित करते हैं तो बच्चे मुक्त होकर खेलते हैं, और इसीलिए वे उन्हें अच्छी तरह से खेलते हैं। बाद में सुधारक इस पर शेखी बघारते हैं, "देखो, इसे कोई भी कर सकता है!" वे भूल जाते हैं कि यह सफलता उन्हें उनके विचारों के कारण नहीं बल्कि उनके वहाँ होने के कारण मिली है। उनके आगमन से कक्षा के रूप में एक अभूतपूर्व बदलाव आया। इससे साफ ज़ाहिर है कि हमें कक्षा में क्या करना चाहिए। शिक्षा को बेहतर बनाने के लिए हमें नए पाठ्यक्रमों या बहुत विकसित और महँगे उपकरणों की उतनी ज़रूरत नहीं जितनी कक्षा को एक बिल्कुल ही अलग तरह की जगह में बदल देने की।

– 1966

स्कूल बच्चों के लिए खराब जगह है

निश्चित ही, सभी स्कूल एक जैसे नहीं होते। कुछ स्कूल, जिन्हें मैं जानता हूँ, बहुत अच्छे हैं। जो स्कूल बहुत अच्छे नहीं हैं, उनमें से कई दूसरों से अच्छे हैं, और बहुत से स्कूल अच्छे हो रहे हैं। इसके अलावा, मुझे भिन्न स्तरों पर कई स्कूली लोगों, शिक्षकों, योजनाकारों, अधिकारियों से बातचीत करने का मौका मिला है। उनमें से बहुत से हमारे स्कूलों की दशा को लेकर दुखी और चिन्तित हैं, और अगर उन्हें सही सुधारों की दिशा मालूम होती, और अगर उनमें हिम्मत होती, तो वे स्कूलों को बच्चों के लिए बेहतर जगहें बनाने के लिए उत्सुक हैं।

फिर भी, हमारे ज़्यादातर स्कूलों की स्थिति दयनीय ही है, जैसे वह हमेशा से रही है। स्कूल बच्चों और अन्य लोगों के लिए रहने और सीखने की हमेशा से एक खराब जगह रही है। पहली बात तो यह कि स्कूलों में अभी भी बहुत निष्ठुरता है। जौनाथन कोज़ोल ने बॉस्टन के स्कूलों के बारे में

जो कुछ बताया, वह किसी भी बड़े शहर के स्कूलों के लिए सच हो सकता है। शहरों में पलने वाले और पढ़ाने वाले अन्य लोगों से भी मुझे इसी प्रकार की कहानियाँ सुनने को मिली हैं। एक कॉलेज में मनोविज्ञान के एक प्रोफेसर ने मुझे यह कहानी सुनाई। उनके बहुत से छात्र समीप के एक ज़रा छोटे शहर में प्रैक्टिस-टीचिंग के लिए जाते थे। कुछ समय पहले जब एक शिक्षक-छात्र वहाँ के स्कूल में पढ़ाने गई तो उस स्कूल के प्रधानाध्यापक ने उसके हाथ में एक छड़ी थमाते हुए कहा, "मुझे इस बात की कोई परवाह नहीं कि तुम बच्चों को कुछ पढ़ाती हो या नहीं, परन्तु उन्हें चुपचाप रखना।" यह कहना ज़रूरी नहीं कि उस स्कूल के बच्चे गरीब घरों के थे; रईस पालक आम तौर पर इस बात को नहीं झेल पाते। यह घटना कोई अपवाद नहीं बल्कि एक सामान्य बात है। प्रोफेसर के बहुत से छात्र, जिनमें बच्चों को लेकर आदर्श और उम्मीदें थीं, प्रैक्टिस-टीचिंग के इस दुखद अनुभव के बाद रोते हुए लौटे और कहने लगे, "हम बच्चों को नहीं पीटना चाहते।" परन्तु बहुत से स्कूलों में इस प्रकार का खेल अभी भी जारी है।

मैंने एक बार कहीं पढ़ा था कि अमरीका, और इंग्लैण्ड में भी, जानवरों पर क्रूरता रोकने वाली संस्थाएँ सदस्यों और धन के मामले में बच्चों पर क्रूरता रोकने वाली संस्थाओं से कहीं अधिक समृद्ध हैं। यह बात सोचने योग्य है।

लेकिन कुछ दक्षिणपन्थी सिरफिरों को छोड़कर शिक्षा में काम करने वाले बहुत कम लोग ही बच्चों पर क्रूरता को खुलेआम सही मानेंगे। इसलिए इस विषय पर प्रहार करना उचित नहीं होगा। वैसे भी, बच्चे अक्सर क्रूरता का खुलकर, सीधा विरोध करते हैं। अगर कोई आपको छड़ी से मार रहा हो, या फिर पूरी कक्षा के सामने आपको ज़लील कर रहा हो, तो आपके साथ क्या हो रहा है और उसे कौन कर रहा है यह आपको अच्छी तरह पता होता है। आप अपने दुश्मन को अच्छी तरह से पहचानते हैं। लेकिन सबसे अधिक हानि उन स्कूलों में होती है जहाँ बच्चे प्रतिरोध नहीं करते, या नहीं कर सकते, क्योंकि उन्हें पता ही नहीं होता है कि उनके साथ क्या हो रहा है और उसे कौन कर रहा है। या फिर, यदि उन्हें इसका पता है तो वे सोचते हैं कि यह दुर्व्यवहार अच्छे, दयालु लोग उन्हीं के भले के लिए कर रहे हैं।

स्कूल की इमारत में पहला कदम रखते समय हरेक बच्चा अधिक चैतन्य, ज़्यादा इच्छुक, उससे कम डरने वाला जिसे वह नहीं जानता, चीज़ों को जानने-समझने में अधिक चतुर, आत्मविश्वासी, साधन-सम्पन्न, धैर्यवान

और स्वतंत्र होता है। उसकी बकाया स्कूली ज़िन्दगी में उसमें कभी इतने अधिक गुण नहीं होंगे। अगर वह असामान्य ढंग से भाग्यशाली नहीं है तो अपने बाकी जीवनकाल में भी शायद वह कभी इतने अधिक गुणों से सम्पन्न नहीं होगा। बच्चे, बिना औपचारिक स्कूली निर्देशों के, सिर्फ आसपास की दुनिया को ध्यान से देखते हुए, लोगों के सम्पर्क से, एक बेहद कठिन, जटिल और अमूर्त बात सीख लेते हैं। यह बात न तो उन्हें स्कूल में सिखाई जाएगी और न ही उनके शिक्षक इसके बारे में कुछ जानते होंगे। यानी स्कूल जाने से पहले ही बच्चे भाषा की अत्यन्त रहस्यमयी गुत्थी को सुलझा चुके होते हैं। गोदी के नन्हे शिशु तो भाषा के अस्तित्व के बारे में जानते ही नहीं – परन्तु स्कूल जाने से पहले ही बच्चा भाषा की कार्य-पद्धति समझकर उसे इस्तेमाल करना सीख जाता है। मैंने इसका वर्णन अपनी पुस्तक *हाऊ चिल्ड्रन लर्न* में किया है। बच्चा अपनी खोजों और प्रयोगों से भाषा के व्याकरण का एक मॉडल रचता है, और फिर देखता है कि वह काम करता है या नहीं। जब तक भाषा ठीक से काम नहीं करने लगती, वह धीरे-धीरे उसे बदलता है और सुधारता है। इस सबको करने के दौरान बच्चा और भी बहुत-सी बातें सीखता है। वह ऐसी कई "अवधारणाएँ" खुद ही सीख लेता है जो स्कूल मानते हैं कि वे ही उसे सिखा सकते हैं। इस प्रकार वह कई अन्य "अवधारणाएँ" भी सीख लेता है जो उन अवधारणाओं से कहीं ज़्यादा जटिल होती हैं जो स्कूल में उसे सिखाई जाएँगी।

स्कूल में पहली बार आ रहा बच्चा जिज्ञासु, सहनशील, ऊर्जा से भरा और एक कुशल सीखने वाला होता है। हम उसे एक डेस्क पर बैठा देते हैं। फिर हम उसे क्या सिखाते हैं? बहुत सारी बातें। पहली यह कि सीखना और ज़िन्दगी जीना दोनों बिल्कुल अलग-अलग बातें हैं। "तुम स्कूल सीखने के लिए आते हो," हम कहते हैं, जैसे कि बच्चे ने पहले कुछ सीखा ही न हो। जैसे कि स्कूल सीखने के लिए हो और बाहर ज़िन्दगी जीने के लिए, और इन दोनों के बीच कोई सम्बन्ध न हो। दूसरी यह कि हम बच्चों के खुद सीखने पर बिल्कुल यकीन नहीं करते, और मान लेते हैं कि वह अपने आप सीखने के काबिल नहीं है। बच्चे ने अभी तक जो कुछ भी सीखा है उसकी तुलना में हमारे द्वारा सिखाई पढ़ाई एकदम सरल है। फिर भी हम उससे कहते हैं कि "अगर हम तुम्हें पढ़ना नहीं सिखाएँगे, तो तुम उसे सीखोगे ही नहीं। और अगर तुम हमारे बताए अनुसार नहीं करोगे, तब तो तुम कभी भी नहीं सीखोगे।" इससे बच्चा सीखने की प्रक्रिया को एकदम

निष्क्रिय समझने लगता है, एक ऐसी चीज़ जिसे आप खुद *अपने लिए नहीं* करते बल्कि दूसरे लोग *आपके लिए* करते हैं।

बहुत-सी अन्य बातों से बच्चा एक चीज़ और सीखता है, कि वह खुद बेकार, अविश्वसनीय, आज्ञाकारी, कोरा पन्ना है जिस पर दूसरे लोग जो चाहें लिख सकते हैं। वैसे हम स्कूलों में बच्चों के प्रति सम्मान और उनके बीच भिन्नताओं की इज़्ज़त करने की दुहाई देते हैं। परन्तु हमारी करनी और कथनी में बहुत फर्क होता है। असल में हम बच्चों से कहते हैं कि "तुम्हारे अनुभव, तुम्हारी चिन्ताएँ, तुम्हारी जिज्ञासाएँ, तुम्हारी ज़रूरतें, तुम क्या जानते हो, तुम क्या चाहते हो, तुम्हारे अचरज, तुम्हारी उम्मीदें, तुम्हारे भय, तुम्हें क्या अच्छा-बुरा लगता है, तुम कौन-सी चीज़ों में अच्छे हो और किन में खराब — ये सब बेकार की बातें हैं, इनका कोई महत्व नहीं है। यहाँ जो बात मायने रखती है, एक मात्र बात जो मायने रखती है, वह यह है कि हम क्या जानते हैं, हम किस चीज़ को महत्वपूर्ण समझते हैं। हम बताएँगे कि तुम्हें क्या करना है, क्या सोचना है, आदि।" बच्चा जल्दी ही सवाल पूछना बन्द कर देता है : शिक्षक उसकी जिज्ञासा को पूरा करने के लिए नहीं है। बच्चे को स्कूल में अपने आप को पहचानने का, खोजने का, खुद को विकसित करने का कोई मौका ही नहीं मिलता। धीरे-धीरे वह अपने बारे में वयस्कों द्वारा किए मूल्यांकन को ही सही मान बैठता है। एक सम्पन्न निजी स्कूल के आठवीं कक्षा के बच्चों की तरह, जिनसे एक बार मैंने बात की थी, वह अपने बारे में सोचने लगता है, "मैं कुछ भी नहीं हूँ। अगर कुछ हूँ भी तो बुरा हूँ। मेरी बहुत रुचियाँ और सरोकार नहीं हैं। जो हैं भी, वे बहुत तुच्छ किस्म के हैं। जो कुछ मुझे प्रिय है वह मेरे लिए, या किसी और के लिए भी, अच्छा नहीं है। मेरा हरेक निर्णय, या करने के लिए मैं जो कुछ भी चुनता हूँ, बेवकूफी भरा होता है। इस दुनिया में ज़िन्दा रहने के लिए मेरे पास केवल एक ही विकल्प बचा है, और वह यह कि मैं किसी सत्ता के दामन को पकड़ लूँ और उसके बताए काम करता रहूँ।"

बच्चा और भी कई बातें सीखता है। वह सीखता है कि गलती, अनिश्चितता, उलझन भी एक जुर्म है। स्कूल केवल सही उत्तर चाहता है, यह बात वह जल्द ही सीख लेता है। और जैसे कि मैंने अपनी पुस्तक *हाऊ चिल्ड्रन फेल* में वर्णन किया है, वह अपने शिक्षक से सही उत्तर उगलवाने के असंख्य तरीके अपनाने लगता है। वह शिक्षक को धोखे से यह मनवाने की कोशिश करने लगता है कि उसे सही उत्तर का पता है, जबकि असल में

उसे उसका पता नहीं होता। वह चकमा देना, झूठ बोलना, बहाने बनाना और नकल करना सीख जाता है। वह आलसी बनना सीख जाता है। स्कूल में दाख़िला लेने से पहले वह अपने आप बिना किसी इनाम की लालसा के, घण्टों काम करता था। उस दौरान वह दुनिया को समझता था और अपनी क्षमताएँ बढ़ाता था। स्कूलों में उसकी हालत किसी ठेके के मज़दूर जैसी होती है जो मालिक की निगाह के सामने बेगार काटता है और निगाह हटते ही कामचोरी करता है। वह सीखता है कि असली ज़िन्दगी में बिना रिश्वत और डाँट-फटकार के कोई काम नहीं करता, कोई भी काम अपने आप में करने लायक नहीं होता, और यदि वह ऐसा होता है तो उसे आप स्कूल में नहीं कर सकते। इस सबसे बच्चा ऊब जाता है। वह अपने मस्तिष्क के केवल थोड़े-से ही भाग का उपयोग करना सीख जाता है और अपने आसपास की कठोर वास्तविकता से पलायन करने के लिए झूठे सपने सँजोने लगता है। पर ये सपने स्कूल आने से पहले जैसे नहीं होते, जिनमें वह ख़ुद एक सक्रिय भूमिका निभाता था।

आजकल स्कूलों में प्रजातांत्रिक मूल्य पढ़ाने की बात भी बढ़-चढ़कर सुनने को मिलती है। परन्तु जो चीज़ बच्चे असल में सीखते हैं वह है गुलामी करना। बॉस की लल्लो-चप्पो कैसे करें। समस्याओं से कैसे दूर रहें और उनमें दूसरों को कैसे फँसाएँ। दूसरों की शिकायत करें। जैसे "मास्टरसाब, देखिए बिली ने ... "। अन्य बच्चों के साथ नीच प्रतिस्पर्धा में जूझने से वे सीखते हैं कि हरेक व्यक्ति दूसरे लोगों का प्राकृतिक दुश्मन होता है। युद्धनीतिज्ञों के अनुसार जीवन शून्य-योग का खेल है। इसमें अगर कोई एक जीतेगा, तो दूसरा हारेगा ही। हरेक विजेता के लिए कोई हारने वाला होना ज़रूरी होगा। (वास्तव में, हमारे शिक्षाविद् और ख़ास तौर पर हमारे तथाकथित और मिथ्याचारी प्रतिष्ठित विश्वविद्यालय तो इससे कहीं आगे निकल गए हैं। उन्होंने शिक्षा को एक ऐसे खेल में बदल दिया है जिसमें एक के जीतने से कम-से-कम बीस हारते हैं।) वैसे बच्चा, अन्य बच्चों के साथ, किसी छोटी-मोटी "कमेटी" का सदस्य भी बन सकता है। परन्तु जब कोई ज़रूरी काम चल रहा होगा — जो स्कूल के लिए महत्वपूर्ण होगा — तब किसी की मदद करने या मदद लेने को "नकल" करार दिया जाएगा।

इससे बच्चा आक्रामक और उदासीन बन जाता है। बिल्कुल वैसे ही जैसे किटी जेनोवीस की हत्या के समय लोगों के साथ हुआ। अड़तीस लोग किटी की हत्या को आधे घण्टे तक देखते रहे और किसी ने न तो कोई

मदद की और न ही दूसरों से सहायता बुलाई। बच्चा जब स्कूल आता है तब वह अन्य लोगों, विशेषकर दूसरे बच्चों के बारे में जिज्ञासु होता है। कक्षा में सबसे रोचक चीज़ – और शायद एकमात्र रोचक चीज़ – बाकी बच्चे ही होते हैं। परन्तु उसे ऐसा अभिनय करना पड़ता है मानो उसके चारों तरफ, उससे कुछ ही दूर बैठे ये बाकी बच्चे असल में वहाँ हों ही नहीं। वह उनके साथ मिलजुल नहीं सकता, उनसे बातचीत नहीं कर सकता, उनकी ओर मुस्करा नहीं सकता, और अक्सर उनकी ओर देख भी नहीं सकता। बहुत से स्कूलों में, पीरियड खत्म होने के बाद, बाहर के गलियारे में भी वह दूसरे बच्चों से बात नहीं कर सकता। कई धनी, चटकदार इलाकों में खाने की छुट्टी के दौरान भी बच्चा अन्य बच्चों से बातचीत नहीं कर सकता। यह ट्रेनिंग एक ऐसा समाज रचने के लिए है जिसमें आप दूसरों को फँसाने के लिए ही उनकी ओर ध्यान देते हैं। नहीं तो आप लोगों की पूरी तरह उपेक्षा करते हैं।

वास्तव में बच्चा एक ऐसी ज़िन्दगी जीने का आदी बन जाता है जिसमें उसे अपने आसपास की किसी चीज़ को ध्यान से देखने की ज़रूरत ही नहीं पड़ती। आप यह भी कह सकते हैं कि स्कूल बच्चों को अपना "स्विच ऑफ" कर लेने की एक लम्बी ट्रेनिंग देता है। शायद यही एक कारण है कि बहुत से युवा लोग दुनिया के बारे में बचपन में मिली चेतना और उसमें रहने की खुशी खो बैठते हैं। परिणामस्वरूप वे उन्हें नशीली औषधियों में तलाशते हैं। उबाऊ होने के साथ-साथ ज़्यादातर स्कूल भौण्डे, उदासीन और अमानवीय होते हैं। यह उन स्कूलों के बारे में भी सही है जो बहुत महँगे और चटकदार होते हैं। मैं अभी तक सैकड़ों नए-पुराने स्कूलों की इमारतों में जा चुका हूँ परन्तु उनमें से अच्छे स्कूलों को मैं अपनी उँगलियों पर गिन सकता हूँ। इन स्कूलों में गलियारों और बरामदों को बच्चों और अन्य लोगों की कलाकृतियों, चित्रों और मूर्तियों से सजाकर मानवीय और जीवन्त बनाया गया था। अक्सर दीवारों पर लगाए गए शासकीय पोस्टरों पर बेहूदा बातें ही लिखी होती हैं, जैसे "जोन्ज़विल स्कूल को हराओ" या "खून चूसने वालो, शैतानो, भागो!" आदि।

शान्त बैठो! चुपचाप बैठो! स्कूल में अक्सर यही शब्द सुनने को मिलते हैं। मान लो कि दूर के ब्रह्माण्ड का कोई जासूस पृथ्वी को हथियाने की योजना बना रहा है। इसके लिए अगर उसकी रणनीति यह हो कि दुनिया को इस कब्ज़े के लिए तैयार करने के लिए यहाँ के बच्चों को ज़्यादा बुद्धु

बनाया जाए, तो उसके पास इससे बेहतर और कोई तरीका नहीं होगा कि वह उन्हें घण्टों बिना हिले-डुले और चुप बिठाए रखे। जासूस की रणनीति एकदम कारगर सिद्ध होगी। बच्चे एक समग्र ज़िन्दगी जीते हैं। उनका शरीर, माँसपेशियाँ, आवाज़ और दिमाग सभी एक-साथ काम करते हैं। अगर आप उनके किसी भी एक भाग पर अंकुश लगाएँगे तो वे पूरी तरह काम करना बन्द कर देंगे।

कुछ समय पहले मैं कुछ नौजवान लोगों द्वारा शुरू किए एक सुन्दर, रेडीकल स्कूल में गया। इनमें से कुछ नौजवान अभी कॉलेज में पढ़ रहे थे और कुछ अभी पढ़कर बाहर निकले थे। स्कूल का नाम था चिल्ड्रन्स कम्युनिटी। यह ऍन आर्बर, मिशिगन में स्थित था। (जहाँ यह स्कूल था उस शहर में एक बहुत प्रसिद्ध विश्वविद्यालय भी है। लेकिन इसके बावजूद धन के अभाव में इस स्कूल को कुछ समय के लिए, और शायद सदा के लिए, बन्द करना पड़ा है।) उस साल स्कूल के पास केवल दो कमरे थे। ये कमरे फ्रेन्ड्स मीटिंग हाऊस में थे। इनमें से एक काफी छोटा था और दूसरा किसी सामान्य कक्षा के नाप का होगा। बच्चों ने सुझाव दिया और माँग की कि छोटे कमरे को शान्त गतिविधियों, जैसे पढ़ना, कहानी सुनाना, सोचना, पेंटिंग, अंकों के साथ काम, वार्तालाप, कूज़ीनेयर छड़ों, पहेलियों आदि के लिए रखा जाए। बड़े कमरे को खेलने और शोरगुल वाले कामों के लिए छोड़ दिया जाए। इस कमरे में शोरगुल मचना स्वाभाविक था। लगभग आधे बच्चे अश्वेत (नीग्रो) थे और अधिकतर बच्चे गरीब थे – जिन्हें अब हम "बाधित" श्रेणी के लोग कहते हैं, इस कुत्सित तथ्य को छिपाने के लिए कि गरीब लोगों को सबसे अधिक आवश्यकता पैसे की ही होती है। यहाँ पर बच्चे अपना अधिकांश समय खेलने और शोर मचाने में गुज़ारते थे। कोई "प्रगतिशील" स्कूल भी उन्हें ऐसा करने की अनुमति नहीं देता। खेलते समय ये बच्चे अपने साथियों और शिक्षकों से उत्तेजित होकर ज़ोर-ज़ोर से मगर धाराप्रवाह और प्रभावशाली तरीके से बातचीत करते थे। उन्होंने शायद यह खबर नहीं सुनी थी कि गरीब बच्चों की, खासकर गरीब अश्वेत बच्चों की, कोई शब्दावली नहीं होती और वे केवल तुतलाते हैं।

इसी तरह पिछली गर्मियों मैं सैन्टा फे, न्यू मेक्सिको गया। वहाँ मैंने गरीब, स्पेनिश बोलने वाले परिवारों के आधा दर्ज़न छोटे लड़कों को – वे दक्षिण-पश्चिम के बाधित लोग थे – एक अद्‌भुत नौजवान के साथ फुटबॉल खेलते हुए देखा। यह नौजवान शहर के मनोरंजन विभाग से

आया था। अपनी अभूतपूर्व कुशलता और तमीज़ के कारण वह इन बच्चों को बिना नीचा दिखाए, उन्हें बिना चोट पहुँचाए या डराए उनके साथ खेल रहा था। अपने व्यवहार से वह बच्चों को गम्भीर ज़रूर लगा, पर खतरनाक नहीं। उन लड़कों में सबसे बड़ा कोई आठ साल का होगा। सभी खेल को बड़ी ऊर्जा और कुशलता से खेल रहे थे। खेलते समय वे एक-दूसरे से लगातार, धाराप्रवाह बातचीत और मज़ाक कर रहे थे। एक बच्चे ने फुटबॉल को सिर से मारा। इससे उसका सिर चकराने लगा। वह एक ओर बैठ गया और कहने लगा, "मुझे दो मिनट की छुट्टी दे दो।" इसके जवाब में दूसरी टीम के एक लड़के ने कहा, "चलो समय खत्म हुआ, एक! दो!" इस तरह की कई बातें हुईं जिनसे एक बात साफ हुई। जो शिक्षक सूनी कक्षाओं के अभ्यस्त हैं वे इन बच्चों की बुद्धिमानी, प्रफुल्लता, मज़ाक की क्षमता का कोई अन्दाज़ नहीं लगा पाएँगे। वे हमेशा इन बच्चों को बेवकूफ और पढ़ने के नाकाबिल ही समझेंगे।

बच्चों की आवश्यकताओं में कुछ प्राथमिकताएँ होती हैं। हो सकता है कि कोई बच्चा सबसे ज़रूरी लगने वाले काम को अभी नहीं कर पा रहा हो। वह किसी अन्य काम में लग गया हो जिसमें उसे उतना ही मज़ा और सन्तोष मिलता हो। पर जब कभी बच्चा मुश्किल में होता है तब ये प्राथमिकताएँ काफी महत्वपूर्ण हो जाती हैं। तब यदि वह अपना सबसे प्रिय काम नहीं कर पाता तो उससे कोई अन्य काम भी नहीं होता। बच्चे में ब्रेक लग जाता है। वह रुक जाता है। जैसे अगर मेन-स्विच "ऑफ" कर दें तो बाकी स्विच अपने आप ही बन्द हो जाते हैं। चिल्ड्रन्स कम्युनिटी में और तब से अन्य स्थानों पर मैंने जो कुछ भी देखा है उससे मुझे अब ऐसा लगता है कि बच्चों को उग्र किस्म की शारीरिक और शाब्दिक क्रियाओं की विशेष आवश्यकता होती है। उन्हें गहरे व्यक्तिगत सम्बन्धों की भी सख्त ज़रूरत होती है। इसका यह मतलब नहीं कि बच्चे हमेशा लड़ें ही। वैसे जब बच्चों को कक्षा में बहुत दबाकर रखा जाता है तब वे निराश होकर गुस्से में आ जाते हैं और उन्हें रोकना कठिन हो जाता है। तभी वे एक-दूसरे से लड़ते हैं। बच्चे एक-दूसरे के साथ और क्या कर सकते हैं? यह सुझाने का सबसे बढ़िया तरीका शायद यह है कि उन गतिविधियों का वर्णन किया जाए जो बच्चे चिल्ड्रन्स कम्युनिटी तथा कुछ अन्य जगहों पर करते थे।

चिल्ड्रन्स कम्युनिटी के खेल और शोर वाले कमरे में बच्चों को तीन पहियों वाली कुछ पुरानी साइकिलें ही सबसे ज़्यादा पसन्द थीं। मैं जब वहाँ पहुँचा

तब बच्चे एक फिसलने वाले खेल में मशगूल थे। एक छोटा लड़का साइकिल पर, एक पैर पीछे रखकर, दूसरे पैर से उसे तेज़ी से धक्का देता था। इससे साइकिल धड़ाम से गिरती और फर्श पर काले टायर का स्पष्ट निशान बन जाता था। सबसे तेज़ फिसलकर फर्श पर सबसे लम्बा निशान बनाना ही खेल का उद्देश्य था। (इन निशानों को सप्ताह खत्म होने से पहले अच्छी तरह साफ करना होता था क्योंकि तब अन्य लोग उस कमरे का इस्तेमाल करते थे।) वहाँ एक पाँच वर्ष की लड़की करीब एक घण्टे तक लकड़ी के टुकड़े को आरी से काटती रही। काफी मेहनत करने के बाद वह कुछ इंच गहरा, एक लहरदार नमूना काटने में सफल हुई। वह लकड़ी में खाँचे के अलावा और कोई खास चीज़ नहीं बना रही थी। वह सिर्फ लकड़ी को काटकर उस पर अपना एक निशान छोड़ रही थी। बाकी बच्चे "ट्राई-वॉल" नाम के मोटे गत्ते से बने एक घर में खेल रहे थे। कभी कुछ बच्चे घर में चले जाते और फिर अन्य बच्चों को अन्दर आने से रोकते। इसमें बच्चों को बड़ा मज़ा आता। बाद में कुछ लड़के एक अन्य, निचली दीवारों वाले "ट्राई-वॉल" घर में घुसे। क्योंकि इस घर के कोने कब्ज़ों से जुड़े थे, इसलिए वे उसके वर्गाकार आकार को हीरे जैसी आकृति में बदल सकते थे। कुछ देर बाद ही उन्होंने उसे कई कोनों वाले एक नुकीले हीरे में बदल दिया और उसे फर्श पर धकेलने लगे, यह सोचते हुए कि वह एक राक्षस था। राक्षस दूसरे बच्चों का पीछा करने लगा। बच्चे डर के मारे उससे दूर भागने लगे, या फिर उसे धक्के से दूर हटाने लगे। इसमें सबको बड़ा मज़ा आया। कुछ देर बाद सभी बच्चे और शिक्षक एक दूसरे खेल में लग गए। इसमें रुमाल से किसी दूसरे को मारकर जल्दी से छिपना होता था — इससे पहले कि दूसरा पलटकर मारे।

अन्य बच्चों की तुलना में गरीब बच्चों को इस प्रकार के खेलों की शायद ज़्यादा ज़रूरत होती है जिनमें शोर, उत्तेजना, व्यक्तिगत मेलजोल आदि हो। हालाँकि सभी बच्चों को इनकी आवश्यकता होती है और उन्हें इनमें मज़ा आता है। वॉल्डन कम्युनिटी स्कूल, बर्कले, कैलिफोर्निया में मुझे बच्चों के सबसे मनमोहक खेल देखने का मौका मिला। यह एक निजी प्राथमिक शाला है। माता-पिता के स्वैच्छिक श्रमदान से यहाँ इमारत की कीमत में एक-तिहाई की कमी आई। यहाँ पर ज़्यादातर बच्चे श्वेत, मध्यम वर्गीय परिवारों से आते हैं। चिल्ड्रन्स कम्युनिटी के बच्चों की तुलना में ये बच्चे धनी परिवारों के हैं। स्कूल की दिनचर्या में छुट्टी के कई पीरियड होते हैं। अवकाश के समय बहुत से बच्चे दौड़कर एक खाली, बड़े से हॉल

में जाते हैं। हॉल को नाना प्रकार की गतिविधियों के लिए इस्तेमाल में लाया जाता है — नाचने, खेलने, सिनेमा, स्कूल की मीटिंग आदि कामों के लिए। अक्सर बच्चे "रॉक" संगीत के रिकॉर्ड को तेज़ आवाज़ में बजाते हैं और फिर कूदते और दौड़ते हैं।

एक दिन वे अलमारी में से हवाई-जहाज़ के कुछ पुराने पैराशूट निकाल लाए। पैराशूट स्कूलों के लिए बेहद सस्ते और उपयोगी संसाधन हैं। जल्द ही पैराशूटों से एक नया खेल उपजा। इसमें एक बच्चे के ऊपर पैराशूट फेंका जाता, या फिर बच्चे को उसमें लपेट दिया जाता। फिर उसे फर्श पर खींचकर, गद्दों के एक ढेर के पास लाया जाता। इस दौरान बच्चे पैराशूट को घुमाते रहते। बच्चे पैराशूट के साथ अलग-अलग तरीकों से रस्सी-खींच जैसा एक खेल खेलते रहते। फिर एक दिन इससे ही एक और नया खेल उपजा। शुरू में कुछ बच्चे एक अलमारी के ऊपर से फर्श पर पड़े गद्दों पर कूदने लगे। अलमारी आठ-नौ फुट ऊँची थी और उसे सरकाकर इधर-उधर ले जाया जा सकता था। कई बच्चे इतनी ऊँचाई से कूदने की हिम्मत नहीं कर पा रहे थे। फिर इसमें और बच्चे जुड़ गए। तभी कोई जाकर एक पैराशूट ले आया। कुछ समय बाद यह नज़ारा देखने को मिला। ज़्यादातर बच्चे कमरे की दीवार से सटकर खड़े हो गए और उन्होंने अपने हाथों से पैराशूट को तान लिया। फिर बच्चे मिलकर "एक, दो, तीन" चिल्लाते, और "तीन" की आवाज़ पर सभी बच्चे जल्दी से पैराशूट को हवा में उठाते। इससे पैराशूट में हवा भर जाती और वह बच्चों के सिरों के ऊपर उठ जाता। जब पैराशूट हवा में ठहरा होता तब एक बच्चा अलमारी के ऊपर से पैराशूट के बीच में छलांग लगाता और नीचे पड़े गद्दों के ढेर पर जाकर गिरता। अगर कूदने वाला बच्चा गद्दों का निशाना चूक भी जाता, तब भी वह फॉयर-ब्रिगेड के तने पैराशूट के जाल पर गिरता और उसे चोट नहीं लगती। पैराशूट पकड़े बच्चे लगातार अपना स्थान बदलते रहते। इससे हरेक को कूदने का मौका मिलता। कुछ बच्चे कूदने का मौका खो देते, पर इससे उन्हें कोई फर्क नहीं पड़ता। शिक्षकों के अनुसार बच्चों ने इस खेल को पहले कभी नहीं खेला था। उन बच्चों ने इस प्रकार के न जाने कितने खेलों का आविष्कार किया होगा।

छोटी उम्र के सभी बच्चों में इस बात की ललक होती है कि कोई उन्हें छुए, पकड़े, झकझोरे, उठाए, उछाले और गोल-गोल घुमाए। चिल्ड्रन्स कम्युनिटी में मैं जब पहली बार गया उसकी याद मुझे आज भी तरोताज़ा है। बिल अइयेरस् उसके संस्थापक प्रधानाध्यापक थे। वे मुझे वहाँ मिशिगन

विश्वविद्यालय से लेकर गए थे जहाँ मैं भाषण देने गया था। हम चिल्ड्रन्स कम्युनिटी के बड़े हाल में गए। बिल अपने पुराने कपड़ों में थे और मैं एक गहरे नीले रंग का सूट पहने था। बच्चों ने मेरी ओर कोई ध्यान नहीं दिया, पर उन्होंने बिल को चारों ओर से घेर लिया। हरेक बच्चा बिल से कुछ-न-कुछ कहने या पूछने को आतुर था। सभी बच्चे चिल्लाने लगे, "बिल, बिल!" एक छोटा बच्चा चिल्लाया, "बिल, मुझे उठाओ।" बिल ने उसे उठा लिया। फिर और बच्चे भी चिल्लाने लगे, "*मुझे* भी उठाओ, *मुझे* भी उठाओ।" बिल ने कहा, "मैं दो को एक-साथ नहीं उठा सकता।" तभी बिना किसी प्रयोजन के मैंने कहा, "मैं दो बच्चों को एक-साथ उठा सकता हूँ।" पहली बार बच्चों ने मेरी तरफ मुँह किया और मुझे बड़े ध्यान से देखा। "असम्भव!" सभी ने कहा। "हाँ, मैं उठा सकता हूँ," मैंने कहा। "मैं तुम्हें दिखा सकता हूँ।" फिर दो बच्चे झिझकते हुए आगे आए। मैं उकड़ूँ बैठा और दोनों बच्चों को अपने एक-एक बाज़ू से पकड़कर खड़ा हो गया। इससे बच्चों में उत्तेजना बढ़ी। अब तो सब बच्चे इकट्ठे होकर चिल्लाने लगे। मुझे तुरन्त प्रसिद्धि मिल गई। मैंने पाया कि दो बच्चों को बाज़ुओं से पकड़ने के बाद भी मेरे दोनों हाथ मुक्त थे। मैंने कहा, "देखो, अगर तुम चाहो तो मैं तीन बच्चों को एक-साथ उठा सकता हूँ।" "नहीं, यह सम्भव ही नहीं है," बच्चे ज़ोर से चिल्लाए। जब मैं अपनी बात पर अड़ा रहा तो एक तीसरा बच्चा आगे आया। मैं नीचे झुका और तीसरे बच्चे को दोनों हाथों से पकड़कर दुबारा खड़ा हो गया। इससे तो एकदम सनसनी फैल गई! इसके बाद लगातार कोई-न-कोई बच्चा मेरे ऊपर या तो झूलता, या फिर मेरे कन्धों और बाज़ुओं पर चढ़ने की कोशिश करता। अन्त में मुझे इस खेल से थकावट होने लगी।

एक दफा मैं गरीब बच्चों के ग्रीष्म-शिविर में गया। वहाँ पास के एक बड़े शहर से श्वेत और अश्वेत बच्चे आए थे। इन बच्चों पर "मानसिक रूप से विचलित" होने का लेबल लगा था। मैं एक कमरे में गया जहाँ तीन लड़के और स्टाफ का एक सदस्य था। स्टाफ का सदस्य संवेदनशील और अनुभवी था। लड़के एक टेप-रिकॉर्डर में कुछ बोल रहे थे। वे शर्मा रहे थे और झिझकते हुए बोल रहे थे, पर वह उन्हें बड़ी कुशलता और सलीके से प्रोत्साहित कर रहा था। मैं उनके पास जाकर फर्श पर चुपचाप बैठ गया। किसी ने भी मेरी तरफ देखा तक नहीं। परन्तु कुछ मिनट बाद उनमें से एक लड़का थोड़ा मुड़ा और उसने मेरे घुटने पर अपनी कोहनी टिका दी। मैं इससे थोड़ा हैरान हुआ। थोड़ी देर बाद दूसरा लड़का भी मुझसे सट

गया। उनमें से कोई भी मुझसे न तो बोला, न ही उन्होंने मेरी ओर देखा, और न ही ऐसा कुछ और ज़ाहिर किया जिससे लगता कि कमरे में मेरी उपस्थिति उन्हें अच्छी लग रही थी। इस शारीरिक सम्पर्क के बाद जब काफी समय बीत गया तब उन लोगों ने मेरी तरफ देखा और मुझसे मेरे बारे में ज़रा रूखे ढंग से पूछा। इस अनुभव में पहले शारीरिक सम्पर्क हुआ। अगर किसी शिक्षक की तरह उनके छूते ही मैं अपने आपको अलग कर लेता तो शायद उनके साथ आगे का संवाद वहीं खत्म हो जाता।

परन्तु अधिकांश स्कूलों में वास्तविक दुनिया से और वास्तविक चीज़ों और लोगों से कोई सम्पर्क होता ही नहीं।

ऐसी उबाऊ, भद्दी और अमानवीय जगहों में जहाँ कभी कोई सच्ची बात बोलता ही नहीं, जहाँ पर सभी लोग कोई नकली अभिनय कर रहे होते हैं, जहाँ शिक्षक और बच्चे आपस में ईमानदारी से संवाद करने को स्वतंत्र नहीं होते, जहाँ हर कोई शक और चिन्ता के साए में जीता है – वहाँ बच्चे एकदम सुन्न और जड़ हो जाते हैं। वे अपनी ऊर्जा को अपने जीवन के उन छोटे-छोटे क्षणों के लिए बचा कर रखते हैं जिन्हें वयस्क बिल्कुल तुच्छ समझते हैं, और इसलिए ये क्षण बच्चों के बिल्कुल निजी क्षण होते हैं। जो बच्चे इस व्यवस्था से लड़ते हैं और उसे पछाड़ते हैं, जो उससे नफरत करते हैं, वे भी अन्त में इस व्यवस्था का एक अंग होने के नाते अपने आप से घृणा करने लगते हैं। बिरले ही ऐसे बच्चे होते हैं जो स्कूल पूरा करने के बावजूद अपनी जिज्ञासा और स्वतंत्रता, अपने स्वाभिमान, क्षमताओं और अपनी नज़र में अपने महत्व को बचाकर रख पाते हैं।

शिकायतों का सिलसिला यहीं खत्म होता है। शिकायतें और भी की जा सकती हैं – और अन्य बहुत से लोगों ने की भी हैं – पर अभी के लिए शायद इतना ही काफी है। काफी से भी ज़्यादा।

हमें क्या करना चाहिए? बहुत कुछ। कुछ चीज़ें तो बहुत सरल हैं; हम उन्हें तुरन्त कर सकते हैं। कुछ कठिन हैं, और उनमें कुछ समय लग सकता है। पहले एक कठिन बात को ही लें। हम स्कूल में हाज़िरी की अनिवार्यता को खत्म करें। कम-से-कम कुछ बदलाव करें जिससे बच्चों को साल में पचास-साठ दिन की आधिकारिक छुट्टी मिल सके। स्कूलों में अनिवार्य हाज़िरी के नियम ने किसी वक्त एक उपयोगी और मानवीय रोल निभाया था। इससे बच्चों का स्कूल जाने का अधिकार सुरक्षित हुआ। नहीं तो बहुत से वयस्क बच्चों के श्रम का खेतों, दुकानों, खदानों और कारखानों

में शोषण करते। परन्तु आज ये नियम स्कूलों, शिक्षकों और बच्चों – किसी के हित में नहीं हैं। जो बच्चे स्कूल नहीं जाना चाहते उन्हें स्कूल में रखने से स्कूलों का समय नष्ट होता है और उन्हें बहुत सी मुश्किलें झेलनी पड़ती हैं। इसमें वह कीमत शामिल नहीं है जो उस नुकसान की भरपाई के लिए उठानी पड़ती है जो गुस्सैल और चिढ़े हुए इन कैदियों द्वारा मौका मिलते ही किया जाता है। हरेक शिक्षक यह बात जानता है कि जो बच्चा स्कूल नहीं आना चाहता वह खुद तो वहाँ कुछ सीखता नहीं है, दूसरों के लिए भी सीखना दूभर कर देता है। जहाँ तक बच्चों को शोषण से बचाने की बात है आज स्कूल बच्चों के शोषण की मुख्य और वास्तव में एकमात्र संस्था है। कॉलेज की होड़ में व्यस्त बच्चे हफ्ते में लगभग सत्तर या उससे भी ज़्यादा घण्टे काम करते हैं। यह काम ज़्यादातर कागज़ी होता है। कॉलेज नहीं जाने वाले बच्चों के लिए स्कूल पूर्णतः समय की बर्बादी होता है। उसके कारण वे न तो कुछ कमा पाते हैं, न ही कोई उपयोगी काम कर पाते हैं, और न ही असल में कुछ सीख पाते हैं।

आपत्तियाँः "अगर बच्चे स्कूल नहीं जाएँगे तो वे सड़कों पर आवारा घूमेंगे।" नहीं, ऐसा नहीं होगा। पहली बात, अगर स्कूलों की हालत अब जैसी ही रही तो भी बच्चे अपना कुछ समय वहीं बिताएँगे, क्योंकि वहाँ बच्चों को अपने मित्रों से मिलने का मौका मिलेगा। स्कूल बच्चों के मिलने-जुलने की एक स्वाभाविक जगह है। दूसरी बात, स्कूल बदलेंगे, वे धीरे-धीरे बेहतर बनेंगे। हमें अभी से स्कूलों को रोचक बनाना होगा जिससे हमारे बच्चों का वहाँ जाने को *मन करे*। तीसरी बात, थोड़ी मेहनत से, थोड़ा दिमाग लड़ाकर, उनकी कुछ मदद करके, हम स्कूल नहीं जाने वाले बच्चों को अन्य चीज़ें करने के लिए प्रेरित कर पाएँगे – ऐसी चीज़ें जिन्हें आम तौर पर बच्चे गर्मियों में और छुट्टियों में ही करते हैं।

अब कुछ सरल बातों को लें। हमें बच्चों को स्कूलों की चारदीवारी से बाहर निकालकर उन्हें असली दुनिया को सीधे-सीधे समझने के अवसर देने चाहिए। बच्चों को ईंटों के बक्सों में बन्द करके ही उस दुनिया के बारे में सिखाया जा सकता है जिसमें वे रहते हैं – यह एक आधुनिक और बेहूदी धारणा है। ऐसे तरीके उन समाजों में भी काम नहीं करते जो हमारे समाज से कहीं कम जटिल हैं। खुशी की बात यह है कि कुछ शिक्षाविद् अब इस बात को समझने लगे हैं। फिलेडेल्फिया और पोर्टलैण्ड, ओरेगॉन में अब इस प्रकार की योजनाएँ बन रही हैं। यहाँ स्कूलों की अपनी इमारतें होंगी ही नहीं। स्कूल छात्रों को शहर में ले जाएँगे और वहाँ मौजूद चीज़ों और

लोगों को सीखने के संसाधनों की तरह उपयोग करेंगे। बहुत से शहरों में निजी स्कूल पहले से ही यह काम कर रहे हैं। यह एक अच्छा तरीका है। हमें इसे बढ़ावा देना चाहिए।

एक ओर हम बच्चों को सीखने के लिए असली दुनिया में ले जा सकते हैं, ताकि वे वहाँ जाकर सीखें, दूसरी ओर हम असली दुनिया का कुछ हिस्सा स्कूलों में भी ला सकते हैं। ज़्यादातर बच्चों को, माता-पिता और शिक्षकों के अलावा, वयस्कों से मिलने-जुलने का बहुत कम मौका मिलता है। इसमें आश्चर्य नहीं कि बच्चों को वयस्कों के जीवन और उनके काम के बारे में कुछ भी पता नहीं होता। हमें स्कूलों में, बच्चों से मिलने-जुलने के लिए, ऐसे बहुत से लोगों को लाना चाहिए जो पेशेवर शिक्षक *न* हों। मुझे एक ऐसे स्कूल के बारे में पता है जो चित्रकारों और हस्तकारों को अपने यहाँ कुछ समय रहने के लिए आमंत्रित करता है। वे मूर्तिकारों, मिट्टी के कारीगरों, संगीतज्ञों और अन्य सृजनशील लोगों से कहते हैं, "कृपया हमारे स्कूल में कुछ हफ्तों (या महीनों) के लिए पधारें। आप स्कूल को अपनी कार्यशाला की तरह उपयोग करें। जब आप अपना काम करें तो बच्चों को उसे देखने दें। अगर बच्चे कोई प्रश्न पूछें, तो अगर आप चाहें तो उनके उत्तर भी दें।" न्यू यॉर्क में एक संस्था है जिसका नाम है टीचर्स एंड राईटर्स कोलैबोरेटिव। यह संस्था रचनाकारों, लेखकों, पत्रकारों, कवियों, नाटककारों, कहानीकारों का एक समूह है। इसके सदस्य नियमित रूप से स्कूलों में जाते हैं – इनमें कई गरीब स्कूल भी हैं – और वहाँ बच्चों से अपने काम और उससे जुड़ी समस्याओं के बारे में चर्चा करते हैं। इसमें बच्चों को बहुत मज़ा आता है। एक अन्य स्कूल में पास के शहर से एक कामकाजी और सफल वकील हर महीने आता है और बहुत सी कक्षाओं से कानून के विषय पर चर्चा करता है। वकील अपने रोज़मर्रा के केसों में आई मुश्किलों के बारे में ज़्यादा बताता है, कानून के किताबी पक्ष के बारे में कम। बच्चों को इसमें आनन्द आता है। घटनाएँ असली और सच्ची होती हैं और वयस्क जीवन से सम्बन्ध रखती हैं। इन्हें कृत्रिम रूप से बच्चों के लिए सुधारा-सँवारा नहीं गया होता। इनमें कोई झूठ-फरेब नहीं होता क्योंकि वे वास्तविकता पर आधारित होती हैं।

अब इससे भी सरल चीज़ों को देखें। बच्चों को आपस में मिलजुल कर काम करने दें, एक-दूसरे की मदद करने दें, आपस में एक-दूसरे की गलतियों से सीखने दें। हम कई शहरी, गरीब और अमीर स्कूलों के

अनुभवों से जानते हैं कि बच्चे आम तौर पर दूसरे बच्चों के सर्वश्रेष्ठ शिक्षक होते हैं। जब पाँचवीं या छठी का बच्चा, जिसे खुद पढ़ने में मुश्किल हो रही होती है, पहली के बच्चे को पढ़ना सिखाता है तो उसकी खुद की पढ़ने की क्षमता भी अभूतपूर्व रूप से बेहतर हो जाती है। यह बड़ी महत्वपूर्ण बात है। अब कई स्कूल, कुछ थोड़ा डर-डरकर, कुछ आत्मविश्वास के साथ, बच्चों के जोड़ी में सीखने की बात पर बल दे रहे हैं। इसके लिए बच्चों को उनका जोड़ीदार साथी चुनने की अनुमति देनी होगी। फिर बच्चे जोड़ियों में, साथ-साथ काम करेंगे, साथ-साथ परीक्षाएँ देंगे। वे जोड़ियों में अपने कार्य के अनुसार नम्बर पाएँगे – बिल्कुल उसी तरह जैसे कि वयस्कों की असली दुनिया में होता है। दो की जोड़ी में काम करना एक कारगर तरीका है। मन्द-बुद्धि बच्चों के साथ काम कर रहे एक शिक्षक के अनुसार, जोड़ी में काम कर रहे बच्चों के परिणाम उनके अकेले काम करने की तुलना में कहीं बेहतर रहे। ऐसे नतीजों की हमें उम्मीद भी होनी चाहिए थी। शायद इस तरीके से शिक्षक एक अन्य बहुत बड़ी समस्या का हल भी ढूँढ पाएँगे। बहुत से बच्चे अपने स्वाभिमान और आत्मसम्मान को सुरक्षित रखने के लिए जानबूझ कर फेल होने की रणनीति अपनाते हैं। इस तरीके के इस्तेमाल से शायद ये बच्चे अपनी इस रणनीति को छोड़कर दुबारा से खतरे उठाने के लिए तैयार हो जाएँ।

बच्चों को अपने काम का खुद मूल्यांकन करने दें। जो बच्चा बोलना सीख रहा हो, वह बार-बार टोकने से नहीं सीखता। अगर उसे बहुत बार टोका जाए तो वह बोलना बन्द कर देगा। वह बच्चा दिन में हज़ारों बार खुद की, और अपने आसपास के अन्य लोगों द्वारा उपयोग की गई भाषा की तुलना करता है। धीरे-धीरे वह अपनी भाषा को दूसरों के समान बनाने की चेष्टा करता है। इसी प्रकार बच्चे बिना सिखाए अन्य कार्य भी सीखते हैं, जैसे चलना, दौड़ना, चढ़ना, सीटी बजाना, साइकिल चलाना, स्केटिंग, खेल खेलना, रस्सी कूदना आदि। इन सभी क्रियाओं में बच्चे अपने काम की तुलना किसी कुशल व्यक्ति की क्रियाओं से करते हैं, और फिर धीरे-धीरे अपने कार्य में सुधार लाते हैं। परन्तु हम स्कूलों में बच्चों को उनकी गलतियों को पहचानने तक का मौका नहीं देते, उन्हें सुधारने की बात तो दूर रही। हमें लगता है कि हमारे बिना बताए बच्चों को उनकी गलती का अहसास होगा ही नहीं, और बिना दिखाए वे अपनी गलती को कभी सुधारेंगे नहीं। इस प्रकार जल्दी ही बच्चे विशेषज्ञों पर निर्भर हो जाते हैं। बच्चों को अपनी गलतियाँ खुद सुधारने दें। यदि वे चाहें तो अन्य बच्चों

की सहायता से खुद शब्दों का सही अर्थ खोजें, समस्याओं के हल खोजें, और बातचीत का सही तरीका सीखें। विज्ञान और गणित जैसे कुछ विषयों में, जहाँ सही उत्तर अनिवार्य हों, बच्चों को सही उत्तर उपलब्ध कराएँ। बच्चों को अपने परीक्षा-पत्र आदि को खुद जाँचने दें। हम शिक्षक इन निरर्थक कार्यों में अपना समय क्यों बरबाद करें? हमारा काम यह होना चाहिए कि जब बच्चा कहे कि उसे सही उत्तर खोजने का तरीका नहीं मालूम तब हम अवश्य उसकी मदद करें। शिक्षक परीक्षा और परीक्षाफल जैसी बेहूदा बातों को भूल जाएँ। कोई क्या जानता और समझता है इसे हम न तो जानते हैं, और न ही कभी जान सकते हैं। इसे हम प्रश्नों के द्वारा तो बिल्कुल नहीं जान सकते। किसी को क्या नहीं आता, हम केवल इतना ही जान सकते हैं। सारी परीक्षाएँ बच्चों को इसी तरह फँसाने के जाल हैं। इस जाल को जला दें और बच्चों को वो सीखने दें जो हरेक शिक्षित व्यक्ति को एक दिन सीखना चाहिए – अपनी समझ को खुद मापना और खुद मालूम करना कि उसे क्या आता है और क्या नहीं।

अब कुछ कठिन सुधार। आवश्यक, निश्चित पाठ्यक्रम को हटा दें। लोग केवल रोचक और उपयोगी चीज़ें ही याद रखते हैं – ऐसी बातें जिनसे उन्हें दुनिया को समझने में मदद मिलती है या जिनसे उन्हें दुनिया का मज़ा लेने या उसमें अपना काम चलाने में मदद मिलती है। बाकी सब, अगर उन्होंने उसे कभी सीखा भी हो, वे जल्दी ही भूल जाते हैं। यह दुनिया जटिल है और तेज़ी से बदल रही है। स्कूल में किसी निश्चित "ज्ञान के भण्डार" को सीखकर सारी ज़िन्दगी उसका उपयोग कर पाना एक निरर्थक कल्पना है। सच्चाई तो यह है कि दुनिया के सबसे ज्वलन्त प्रश्नों और समस्याओं का स्कूल और विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रमों में समावेश होता ही नहीं। आप किसी भी विश्वविद्यालय के परिचयपत्र को उठा कर पढ़ें और देखें कि आपको शान्ति, गरीबी, नस्लवाद, पर्यावरण प्रदूषण जैसे प्रश्नों पर कितने पाठ्यक्रम मिलते हैं।

सालों की गलत शिक्षा के बाद भी बच्चे जिस चीज़ को सबसे अधिक चाहते हैं वह है इस दुनिया को, अपने आप को और दूसरे लोगों को समझना। यदि वे चाहें तो इस कार्य में हम उनकी मदद करें। परन्तु सहायता ऐसी हो जैसी वे चाहते हैं। उत्सुक और चिन्ताग्रस्त पालक और शिक्षक कहेंगे, "अगर इसके बाद भी बच्चे दुनिया में जीने के लिए ज़रूरी कोई सार्थक बात नहीं सीखे, तो फिर क्या होगा?" आप इसकी फिक्र न करें। अगर कोई बात दुनिया में जीने के लिए आवश्यक होगी तो बच्चे

उसका पता करके उसे सीख लेंगे। वयस्क पूछेंगे, "अगर बच्चों ने भविष्य के लिए उपयोगी बातें नहीं सीखीं, तब क्या होगा?" किसी भी बात को तब सीखा जाता है जब उसकी ज़रूरत महसूस होती है। भविष्य में क्या सीखना होगा यह कोई भी नहीं जान सकता। बीस साल बाद हमें जिस ज्ञान की आवश्यकता होगी उसमें से ज़्यादातर शायद आज उपलब्ध ही न हो। वयस्क कहेंगे, "अगर बच्चों को खुद चुनने का मौका मिलेगा, तो वे खराब बातें ही चुनेंगे।" यह सही है कि बच्चे जो कुछ चुनेंगे उनमें से कुछ बातें काफी खराब भी होंगी। परन्तु वे अच्छी बातें तभी चुनना सीखेंगे जब वे खुद उन्हें चुनेंगे और उनके सहारे जिएँगे। लोग अपने गलत चयन को पहचानें और उसे बदलें, यह एक महत्वपूर्ण बात है। अगर कोई कभी गलती ही नहीं करेगा तो उसे वह सुधारेगा कैसे? अगर दूसरे लोग उसकी गलती को सुधारते रहेंगे तो वह सीखेगा कैसे? सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि जिस बच्चे को कभी असल में चयन करने का मौका ही न मिला हो वह सही चयन करने और निर्णय लेने की अपनी क्षमता पर विश्वास कैसे करेगा? अगर उसे लगता है कि उसे खुद अपनी ज़िन्दगी को चला पाने का भरोसा नहीं है तो वह उसे चलाने के लिए किसकी शरण में जाएगा?

यहाँ मूल सवाल काफी सरल है। क्या हम बच्चों को भीरू, आज्ञाकारी, डरपोक, कायर भेड़ों जैसा बनाना चाहते हैं या फिर मुक्त इंसानों जैसा? अगर हमें भेड़ें चाहिए तो हमारे स्कूलों की वर्तमान हालत उसके लिए बिल्कुल उपयुक्त है। और अगर हमें मुक्त इंसान चाहिए तो हमें कुछ बड़े-बड़े परिवर्तन करने होंगे।

— 1966

चूहा-दौड़

आजकल परीक्षाओं में अधिक अंक लाने के लिए बच्चों पर बहुत दबाव है। इसके बारे में जो कुछ भी कहा या लिखा जाता है उसमें यह निहित होता है कि स्कूल और कॉलेज इसके लिए ज़िम्मेदार नहीं हैं; शिक्षण संस्थाएँ जहाँ एक ओर पालकों की महत्वाकांक्षाओं की शिकार हैं, वहीं दूसरी ओर उन्हें इस जटिल समाज की ज़रूरतों को पूरा करना है। इस दलील में शायद कुछ सच्चाई हो, पर ज़्यादा नहीं। यहाँ-वहाँ कुछ ऐसे भी स्कूल हैं जिन्हें, उनकी इच्छा के विरुद्ध, पालकों की माँग के चलते, पढ़ाई के कारखानों में परिवर्तित कर दिया गया है। ये बच्चों को लगातार दबाव में रखते हैं। परन्तु ज़्यादातर जगहों पर शिक्षाविद् खुद ही इस दबाव का स्रोत और कारण हैं। छात्रों की बुद्धि, चरित्र और क्षमताओं का सम्पूर्ण विकास करने की बजाय ये शिक्षाविद् अपने हितों के लिए उन्हें अहंकार से प्रेरित स्पर्धा में झोंक रहे हैं जिसका उद्देश्य धन और प्रतिष्ठा अर्जित करना है। शिक्षण संस्थाएँ छात्रों की सेवा करती हैं, आज यह सिर्फ एक सैद्धान्तिक बात है। असल में छात्रों का केवल एक ही काम होता है — वे

अपने बेहतरीन परिणामों से इन संस्थाओं के लिए गौरव हासिल करें।

यह बात केवल कॉलेजों और विश्वविद्यालयों के बारे में ही सच नहीं है। मैंने कई सेकेण्डरी और प्राथमिक स्कूलों के शिक्षकों को भी बच्चों पर भारी कार्य बोझ के पक्ष में सफाई देते सुना है। उनके अनुसार बच्चों का बोझ कम करने से परीक्षाओं में उनके कम अंक आएँगे। इससे स्कूल की प्रतिष्ठा धूमिल होगी। मुझे अभी भी एक प्रतिष्ठित प्राथमिक स्कूल के एक अनुभवी शिक्षक की बात याद है। उसने स्कूल के शिक्षकों की एक मीटिंग में कहा कि यदि बच्चों का परीक्षाफल अन्य प्रतिद्वन्द्वी स्कूलों की तुलना में नीचे गिरा तो उन्हें अपने स्कूल को बन्द करने के लिए मजबूर होना पड़ेगा। यह तब जबकि इस स्कूल में दाखिले के लिए प्रत्याशियों की एक लम्बी कतार थी। मुझे एक ऐसे स्कूल के बारे में भी पता है जहाँ शिक्षकों का वेतन बच्चों के परीक्षाफलों के अनुसार ऊपर-नीचे किया जाता था।

कुछ दिन पहले मैं न्यू इंग्लैण्ड के एक प्रारम्भिक विख्यात स्कूल में पुराने छात्रों के एक भोज में भाग लेने के लिए गया। वहाँ एक शिक्षक ने अपने भाषण में बड़े गर्व से उन सफल छात्रों का प्रतिशत बताया जिन्हें अपने मनपसन्द कॉलेज में दाखिला मिल गया था। उन्होंने स्कूल को गौरव दिलाने वाले अन्य छात्रों का भी उल्लेख किया। मुझे यह सुनकर लगा जैसे कोई उत्पादक, अन्य प्रतिद्वन्द्वियों की तुलना में, अपने माल की तारीफ कर रहा हो। दूसरी ओर जब स्कूल के शिक्षक कम अंक प्राप्त करने वाले बच्चों के बारे में चर्चा करते हैं तो उनकी आवाज़ एकदम बदल जाती है। इन बच्चों को घटिया माल यानी कम्पनी के नाम पर धब्बा समझा जाता है, और उनका उत्पादन बन्द करने की बात कही जाती है। कभी-कभार ही कहा जाता है कि स्कूल बच्चों के लिए ठीक नहीं हैं। आम तौर पर यही माना जाता है कि कुछ बच्चे स्कूल के लिए उपयुक्त नहीं हैं।

यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि महत्वाकांक्षी स्कूल छात्रों का, खास तौर पर काबिल छात्रों का, भीषण शोषण करते हैं। ये स्कूल बच्चों को व्यापार जगत की ही तरह एक उपभोक्ता के रूप में देखते हैं और उन पर विनाशकारी मनोवैज्ञानिक दबाव डालते हैं।

इन स्कूलों में बारह-तेरह साल के बच्चे दिनभर पढ़ने के बाद रात को दो-तीन या उससे ज़्यादा घण्टे का होमवर्क करते हैं। सप्ताह के अन्त में यह और अधिक हो जाता है। बच्चों की आयु बढ़ने के साथ-साथ यह भार भी बढ़ता जाता है। कॉलेज में जाने से पहले बहुत से बच्चे सप्ताह में सत्तर

घण्टे या उससे भी ज़्यादा समय पढ़ते हैं। औद्योगिक क्रान्ति के शुरू के बर्बर दिनों के बाद से बच्चों ने कभी इतना अधिक काम नहीं किया होगा।

मेरी एक चौदह वर्षीय छात्रा ने कुछ समय पहले मुझसे शिकायत नहीं बल्कि मज़ाक के लहज़े में कहा कि जब वह रात को लोकल ट्रेन से घर जाती है तो उसे ट्रेन में बहुत से व्यापारी मिलते हैं जो घर जाकर आराम करने की सोचते हैं, जबकि उसे घर पर दो-तीन घण्टे का होमवर्क करना होगा। शायद इनमें से कई आदमी अपने पूरे दिन के काम को इस लड़की के होमवर्क से कम कठिन और कठोर पाते होंगे।

अपने पक्ष में स्कूल और कॉलेज यह दलील देते हैं कि समाज द्वारा बेहतर प्रशिक्षित लोगों की माँग के कारण ही वे छात्रों पर अत्यधिक दबाव डालने को मजबूर होते हैं। यह दलील आमतौर पर सरासर झूठी और बेईमान है।

कठोर तथ्य यह है कि इन शिक्षाविदों का मुख्य उद्देश्य कॉलेज खोजते पालकों और कर्मचारी खोजती कम्पनियों को यह बताना है कि उनके कॉलेज में दाखिला मुश्किल होने के कारण वह दूसरों से बेहतर है। इसलिए सबसे अच्छे छात्रों को उन्हीं के कॉलेज में दाखिला लेना चाहिए और सबसे चोटी की कम्पनियों को भी उन्हीं के स्नातकों को नौकरियाँ देनी चाहिए।

हाल ही में मैंने एक प्रमुख कॉलेज में शिक्षकों से बातचीत के दौरान कहा कि हमारे विश्वविद्यालयों का काम भविष्य के सरकारी या गैर-सरकारी उच्च पदाधिकारियों, वैज्ञानिकों आदि के लिए व्यावसायिक प्रशिक्षण देना नहीं, बल्कि आज के लड़के-लड़िकयों को एक व्यापक अर्थ में पढ़े-लिखे वयस्क और नागरिक बनाना है। मेरी बात को सुनकर किसी ने मुझसे एक बहुत सटीक और रोचक प्रश्न पूछा : अगर कॉलेज भविष्य के "नेताओं" का निर्माण नहीं करेगा तो भविष्य में उसे एलुम्नाई फंड के लिए धन कहाँ से मिलेगा, जो कॉलेज के लिए प्रतिष्ठा की दौड़ में बने रहने के लिए ज़रूरी है? बताएँ, कहाँ से? यह वाकई एक कठिन समस्या है। परन्तु यह समस्या शिक्षाविदों के लिए एक प्रमुख चिन्ता का विषय नहीं होनी चाहिए। निश्चित तौर पर इस समस्या के कारण ज़्यादा से ज़्यादा बच्चों पर अच्छे परिणामों के लिए अत्यधिक दबाव डालना तो सरासर गलत होगा।

इन दबावों का क्या असर होता है? इनका काफी हानिकारक असर पड़ता है। इनसे बच्चों में सही उत्तर पाने की चिन्ता बढ़ जाती है और वे गलती

करने से कतराने लगते हैं। बच्चे अपनी पढ़ाई और व्यवहार में बचाव की रणनीति अपनाने लगते हैं। इससे उनकी बौद्धिक प्रतिभा ढँक जाती है और सच्ची सीख असम्भव हो जाती है।

जिन पन्द्रह-सोलह वर्ष के किशोरों को मैं अभी पढ़ाता हूँ उन जैसे बच्चों पर ये दबाव और भी ज़्यादा घातक और दूरगामी असर डालते हैं। बढ़ती उम्र के बच्चे की ज़िन्दगी में यही वह वक्त होता है जब वह दबाव से सबसे ज़्यादा मुक्ति चाहता है। ज़िन्दगी के इस मुकाम पर आकर उसे एक व्यक्ति के तौर पर काफी तीखे ढंग से अपने बारे में बोध होता है। उसे यह जानने की ज़रूरत महूसस होती है कि वह कौन और क्या है। वह समझने लगता है कि काफी हद तक वह खुद ही तय कर सकता है और करेगा कि वह कैसा व्यक्ति बनेगा। संक्षेप में, यह एक ऐसा समय होता है जब वह खुद को समझने लगता है और खुद का निर्माण भी करने लगता है। मन ही मन वह महसूस करने लगता है कि थोरो का क्या मतलब था जब उन्होंने कहा था कि हरेक इंसान खुद अपनी सबसे उत्तम कलाकृति यानि मास्टरपीस होता है।

व्यक्ति की पहचान किन चीज़ों से बनती है? उसके गुणों, रुचियों और विश्वासों से जिन्हें वह खुद खोजता, चुनता और सँजोता है; जो न खो सकते हैं और न ही चोरी किए जा सकते हैं; जो उसकी पदवी, सफलता और दूसरों की राय पर निर्भर नहीं होते। विशेष तौर पर, उसके आदर्श व्यक्ति कौन हैं? उसे किस प्रकार की पुस्तकें, संगीत, खेल पसन्द हैं? कौन-सी रुचियों में उसे मज़ा आता है, चाहे किसी और की उनमें रुचि हो या नहीं, और चाहे वे "अच्छी" या "करने लायक" हों या नहीं? वह अपने जीवन को समृद्ध बनाने के लिए कौन-से नए अनुभव खोजता है? इन सब चीज़ों से भी व्यक्ति की पहचान बनती है।

किशारों को यह सब खोजने, चखने, चुनने और त्यागने के लिए समय चाहिए होता है। वह कौन है और वह वैसा कैसे बना? भविष्य में वह क्या बनना चाहता है और उसके लिए उसे क्या करना होगा? इन सब प्रश्नों के लिए उसे सोचने और बातचीत का समय चाहिए होता है। उसे चीज़ों को अनुभव करने और अपने अनुभवों को पचाने का समय चाहिए होता है।

इसके अलावा हम किशोरों को हमेशा एक कटघरे में खड़ा करके उनके बारे में लगातार निर्णय लेते रहते हैं। इसके परिणामस्वरूप वे खुद के

मूल्यांकन, और सपनों को त्याग देते हैं। वे हमारे मूल्यांकन और सोच के अनुसार आगे बढ़ते हैं। वयस्कों के सामने उनकी कैसी छवि है? इसी प्रश्न के बारे में वे सोचते रहते हैं। इस तरह हम उस गम्भीर और अपंग कर देने वाली त्रुटि को बढ़ावा देते हैं जो पहले ही बहुत से किशोरों में होती है — लगातार इस बात से त्रस्त रहना कि दूसरे लोग उनके बारे में क्या सोचते हैं।

किशोरों के बारे में हमारे निर्णय अधिकतर आलोचनात्मक, बुरे और कठोर होते हैं। इस तरह हम उनकी हरेक त्रुटि का बढ़ा-चढ़ाकर बखान करते हैं। उन्हें लगता है कि दूसरे लोग उनके बारे में हमेशा बुरा ही सोचते हैं, और कि शायद उनमें अच्छा सोचने लायक कुछ है ही नहीं। असल में किशोरों की उम्र अपनी अस्मिता, अपनी असली कीमत पहचानने की होती है। पर अपने व्यवहार से हम यह लगभग निश्चित कर देते हैं कि वे ठीक इससे उलट करेंगे।

जिस प्रतिस्पर्धा में हमने बच्चों को झोंका है उसमें हरेक प्रत्याशी हारता ही है। बच्चे स्कूल जाएँ और वहाँ अच्छा करें, सिर्फ इतने भर से अब पालक सन्तुष्ट नहीं हैं। बच्चों के लिए भी अब यह पर्याप्त नहीं है। अब सभी का एकमात्र लक्ष्य होता है किसी विख्यात कॉलेज में दाखिला लेना। और कुछ भी करना हार का संकेत होगा। मैं अक्सर छात्रों को यह कहते हुए सुनता हूँ, "मैं फलाँ कॉलेज में दाखिला चाहता था, परन्तु मैं उसके योग्य नहीं हूँ।" बच्चों का इस तरह सोचना एक बहुत दर्दनाक बात है। किसी दूर स्थित कॉलेज द्वारा दाखिला नहीं दिए जाने से बच्चे अपने आपको बेवकूफ और निकम्मा समझने लगें यह बहुत गलत बात है।

बच्चों पर हम जो दबाव डालते हैं उसके कारण वे अपने आपको असहाय और सत्ताहीन महसूस करने लगते हैं। मेरे एक मित्र ने हाल ही में एक प्रतिष्ठित कॉलेज से स्नातक की डिग्री हासिल की है। उसके अनुसार वहाँ छात्रों को पढ़ने के लिए इतनी अधिक सामग्री दी गई कि किसी अच्छे-से-अच्छे पाठक के लिए भी, पूरा समय लगाकर उसमें से आधी सामग्री को भी पढ़ पाना असम्भव था।

जब छात्रों को ऐसा काम दिया जाता है जिसे करना असम्भव हो तो वे अपने आपको चूहों की दौड़ में थके और पस्त किसी व्यापारी जैसा महसूस करते हैं। उन्हें लगता है जैसे वे अपने जीवन पर नियंत्रण खो बैठे हों। बाहरी शक्तियाँ उन्हें अपने मनसूबों को साधने के लिए लगातार दौड़ने को

उकसाती हैं। इससे उन्हें साँस लेने की, कुछ सोचने तक की फुर्सत नहीं मिलती। समाज उन्हें कोई ऐसा समुदाय नहीं लगता जिसके साथ जुड़कर वे उसमें योगदान करें, जैसा कि पुराने ज़माने में यूनान में होता था। समाज उन्हें कहीं दूर स्थित किसी अमानवीय मशीन जैसा लगता है जो उन्हें अपने स्वार्थों के लिए ढाल रहा है।

मेरे छात्र मुझसे पूछते हैं, "मैं अपने आपको कैसे बचा सकता हूँ? मैं अपने अन्दर के असली इंसान को इस समाज से कैसे सुरक्षित रख सकता हूँ?" प्रश्न पूछने के बाद वे निराश होकर इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वे अपनी अस्मिता को नहीं बचा पाएँगे। पॉल गुडमैन का शायद यही मतलब था जब उन्होंने कहा था कि हमने अपने प्रतिभाशाली छात्रों पर गुलामी की मनोदशा थोप दी है। हमने नई पीढ़ी को जीवन के सुन्दर लक्ष्य और सपने न देकर पराधीनता और गुलामी की बेड़ियाँ दी हैं। अब उनमें अपने सपनों को जीने के लिए ज्ञान की चाह और सत्ता की ललक नहीं बची है। इसकी बजाय वे बताए हुए कार्यों को ही अच्छी तरह करते हैं क्योंकि उनमें मना करने की हिम्मत ही नहीं बची है।

छात्रों में मिशन की भावना को नष्ट करके हम काफी हद तक काम और आराम के क्षणों में उनके आनन्द को भी भ्रष्ट कर देते हैं। थोरो ने एक बार लिखा था: "सबसे निपुण मज़दूर अपने दिन को काम के बोझ से नहीं भरेगा। वह अपने काम को आराम से और उसका आनन्द लेते हुए करेगा।" आदमी में काम करने की प्रबल इच्छा हो, यानी वह अपने आपको उस काम से रोक ही न पाए और काम मिलते ही उसमें आनन्द लेने लगे – जो व्यक्ति इस अनुभूति से वंचित है उसे अवश्य किसी ने बुरी तरह छला है। केवल इतना ही नहीं, शायद वह अब अपने काम को ठीक से करेगा भी नहीं। शायद वह काम उसे करने लायक ही न लगे।

मुझे अपने एक पुराने छात्र की याद है। उसे कई हफ्तों तक, छुट्टी के दिनों में भी, काम पूरा न करने के कारण स्कूल में रोककर रखा गया – शायद यह सोचकर कि इन दिनों में वह अपना काम पूरा कर लेगा। जब एक दिन मैं उससे मिला तो वह अपनी रुचि के एक काम में व्यस्त था। वह एक छोटी प्रिंटिंग प्रेस पर काम कर रहा था। मैंने रोष में उत्तेजित होकर उससे कहा, "अगर तुम ज़रूरी कामों को पहले निपटा लोगे तो उसके बाद अपनी मर्ज़ी के कामों को करने के लिए तुम्हारे पास समय होगा।"

उसने धीरे से मुझे बहुत समझदारी का जवाब दिया, "नहीं, मैं ऐसा नहीं

कर सकता। वे मुझे और काम सौंप देंगे जिसे मुझे करना ही होगा।"

पहले की अपेक्षा यह सच्चाई आज ज़्यादा प्रखर है। स्कूल अपने आपसे यह नहीं कहते, "देखो, अब बहुत हो चुका।" अगर ऊँचे छल्ले को बच्चा पार कर लेता है तो स्कूल उसे सफलता की निशानी मानकर छल्ले को और ऊँचा उठा देते हैं।

इन दबावों के विकराल प्रभाव हमें साफ-साफ दिखाई देते हैं। इनसे मनोवैज्ञानिक विचलन और खुदकुशी बढ़ी है। छात्र शराब और नशीली दवाइयों का अत्याधिक सेवन करने लगे हैं। न केवल असफल छात्रों में बल्कि तेज़, प्रतिभाशाली छात्रों में भी नकल की वारदातें बढ़ी हैं। यह एक दुखद बात है कि हमारे बहुत से अच्छे और काबिल छात्र इस बात से पूर्णतः सहमत हैं कि सफलता के लिए उन्हें नकल करनी ही चाहिए। सफलता उनके लिए इतनी महत्वपूर्ण हो गई है कि उसके लिए नकल करना भी सही काम बन गया है।

अच्छे अंक पाने के दबावों का एक विस्तृत और सामान्य परिणाम यह हुआ है कि सीखने की प्रक्रिया ही भ्रष्ट हो गई है। कथनी चाहे कुछ भी हो, परन्तु हमारी करनी उससे उलट होती है। जिस प्रकार हम पुरस्कार बाँटते हैं उससे छात्रों को लगता है कि सीखना समझ और आनन्द के लिए नहीं बल्कि कोई इनाम पाने के लिए है; कि स्कूलों और कॉलेजों में विषय की असली समझदारी ज़रूरी नहीं है, महत्वपूर्ण बात यह है कि कुछ लोगों को लगे कि तुम्हें आता है; कि ज्ञान इसलिए मूल्यवान नहीं होता क्योंकि हम उससे सामाजिक और निजी समस्याओं को सुलझाते हैं, बल्कि इसलिए क्योंकि ज्ञान एक बाज़ारू माल है जिसे हम ऊँचे दाम पर बेच सकते हैं। स्कूल धोखाधड़ी का कारोबार बन गया है। स्कूल में सफलता पर ही असली ज़िन्दगी की सफलता निर्भर करती है। और यह खेल को सही तरीके से खेलने से ही हासिल होती है।

क्या स्कूलों और कॉलेजों को अच्छे परीक्षाफलों की माँग को कम करने या हटाने के लिए राज़ी किया जा सकता है? कई कारणों से स्कूल और कॉलेज इस बात को नहीं स्वीकार करेंगे।

पहले, उन्हें इस बात का कोई अन्दाज़ ही नहीं है कि प्रतिष्ठा की इस प्रतिस्पर्धा से कितने अधिक अमरीकी नौजवानों और शिक्षा का नुकसान हो रहा है। उनका नज़रिया इससे बिल्कुल उलट है — वे शिक्षा को अधिक उन्नत बनाने और ऊँचे मानकों की बात करते हैं।

दूसरे, वे कहेंगे कि उन्होंने अपने अनुभवों से पाया है कि ऊँचे अंक प्राप्त करने वाले छात्रों की कॉलेज में टिके रहने की सम्भावना ज़्यादा है। पर ऐसा इसलिए है क्योंकि स्कूलों की ज़्यादातर पढ़ाई ही ऊँचे अंक लाने पर आधारित है। अगर स्कूल परीक्षाओं और अंकों के महत्व को कम कर देंगे तो उन्हें ऐसे छात्र भी कम लेने पड़ेंगे जो सिर्फ इम्तहान पास करने में ही कुशल हों।

तीसरे, कॉलेज कहेंगे कि अगर वे दाखिले को ऊँचे अंकों के मापदण्ड से मुश्किल नहीं बनाएँगे तो उनके पास दाखिला लेने वालों का अम्बार लग जाएगा। और फिर वे उनमें से सही चुनाव कैसे करेंगे? पर क्योंकि कॉलेजों में दाखिले के लिए वैसे ही लम्बी लाइनें हैं, इसलिए उन्हें ऊँचे अंकों के अलावा दाखिले के अन्य मापदण्ड बनाने ही पड़ते हैं। इन मापदण्डों को और भी ज़्यादा अहमियत क्यों न दी जाए? और अगर कॉलेजों के पास उसके बावजूद भी बहुत ज़्यादा अर्ज़ियाँ हों तो दाखिले लॉटरी के ज़रिए किए जाने चाहिए। इससे अगर कोई छात्र किसी लोकप्रिय कॉलेज में अर्ज़ी भरेगा तो दाखिले की कम सम्भावना का पता उसे पहले से ही होगा। दाखिला न मिलने पर छात्र उसे संयोग मानेगा और खुद को अयोग्य नहीं ठहराएगा।

इसके लिए कुछ प्रतिष्ठित कॉलेज मिलकर कुछ कर सकते हैं। वे हर वर्ष, संयुक्त रूप से कम अंक पाने वाले परन्तु अन्य क्षेत्रों में कुशल कुछ छात्रों को दाखिल कर सकते हैं। अगर ऐसा करने से उन्हें लगता है कि ये छात्र उच्च अंकों वाले छात्रों जितने ही मूल्यवान और प्रतिभाशाली हैं तो वे अगले सत्रों में कम अंकों वाले छात्रों की संख्या को बढ़ा सकते हैं। इस नीति से प्राथमिक और सेकेण्डरी स्कूल के शिक्षक उच्च अंकों के अलावा अन्य उद्देश्यों पर अपना ध्यान केन्द्रित करेंगे। इससे इम्तहान पास करने में अकुशल तमाम प्रतिभाशाली नौजवानों को एक उम्मीद का सहारा मिलेगा।

अगर कॉलेज प्रतिष्ठा और प्रतिस्पर्धा के लिए उच्च अंकों वाले छात्रों को भर्ती करने की अपनी मंशा को इसके बाद भी नहीं बदलते हैं तो स्कूलों को ऐसे कॉलेजों का बहिष्कार करना चाहिए। इसके लिए सबसे पहले इस अवधारणा को खण्डित करना होगा कि अच्छी शिक्षा केवल नामी-गिरामी, प्रतिष्ठित कॉलेजों में ही मिलती है।

मुझे ऐसे बहुत से छात्रों के बारे में पता है जो प्रतिष्ठित कॉलेजों में हैं परन्तु

जिन्हें वहाँ का पाठ्यक्रम नापसन्द है और जिनके लिए वहाँ रहना एक प्रेरक अनुभव नहीं है। मैं ऐसे भी कई लड़के-लड़कियों को जानता हूँ जो कम प्रतिष्ठित संस्थाओं में, या ऐसी संस्थाओं में जिनकी बिल्कुल ही कोई प्रतिष्ठा नहीं, पढ़ने के बावजूद ज़्यादा खुश और प्रेरित हैं।

हो सकता है कि कुछ कम प्रतिष्ठा वाले कॉलेजों में एकदम चोटी के अध्यापक कम हों। पर यहाँ अध्यापकों के पास जिज्ञासु छात्रों के काम में रुचि लेने और उनके साथ वक्त बिताने का ज़्यादा समय होता है। खुद पर दबाव कम होने के कारण यहाँ के छात्रों को शायद अपनी रुचियों के लिए अधिक समय मिलता हो।

स्कूलों और कॉलेजों को इस अवधारणा को जड़ से ही मिटाने की कोशिश करनी चाहिए कि शिक्षा किसी सत्ताधारी की कृपादृष्टि पाने के लिए अन्य छात्रों के खिलाफ एक दौड़ है। उन्हें उस सच्चाई को सबके सामने रखना चाहिए जिसे येल विश्वविद्यालय के पूर्व अध्यक्ष ग्रिसवोल्ड ने बड़ी स्पष्टता से कहा है: महत्वपूर्ण यह है कि "पढ़ने वाले इंसान में खुद सीखने, यानी हरेक काम का आनन्द लेते हुए उसमें अर्थ और सच्चाई खोजने की इच्छा और क्षमता होनी चाहिए।"

— 1966

[हमें कुछ उत्साहवर्धक चिन्ह नज़र आ रहे हैं। हमारे कुछ प्रतिष्ठित कॉलेज और विश्वविद्यालय अब समझ रहे हैं कि परीक्षा में उच्च अंक ही भर्ती का एकमात्र मापदण्ड नहीं होना चाहिए। हार्वर्ड विश्वविद्यालय का मेरा एक छात्र अब एक विख्यात कॉलेज में प्रोफेसर है। उसके एक छात्र ने हाई स्कूल भी पूरा नहीं किया। स्कूल छोड़ने के पश्चात उसने दूर-दराज़ की यात्राएँ कीं और स्वतंत्र रूप से कामकाज करता रहा। बाद में हार्वर्ड और ब्राउन दोनों विश्वविद्यालयों में उसे दाखिला मिल गया।

हमारे स्कूल यह सोचने लगे हैं कि मोलतोल की सारी सत्ता कॉलेजों के पास है। परन्तु ऐसा नहीं है। अगर हमारे छात्रों को प्रतिष्ठित कॉलेज चाहिए तो इन विख्यात कॉलेजों को अच्छे छात्र भी चाहिए। मान लें कि बहुत से स्कूल संयुक्त रूप से कॉलेजों से यह कहें, "हमारे सबसे अच्छे छात्र उच्च अंकों की प्राप्ति के लिए मेहनत से तंग आ चुके हैं। वे अब अपनी रुचि और खुशी के लिए ही सीखना चाहते हैं। आप उन्हें और हमें

भरोसा दिलाएँ और दिखाएँ कि आपके यहाँ उच्च अंक कम महत्वपूर्ण हैं, नहीं तो हमारे छात्र अन्य कॉलेजों की तलाश करेंगे, और इस काम में हम छात्रों की मदद करेंगे।" क्या इससे तस्वीर नहीं बदलेगी? आखिर दबाव तो दोनों ओर से डाला जा सकता है।

अब ज़रा दीर्घकालीन नज़रिए से देखें। मेरी राय में कॉलेजों को हरेक अर्ज़ी भरने वाले को दाखिला दे देना चाहिए। पर अगर वहाँ सारी सीटें भर गईं तो क्या होगा? फिर उन्हें वही करना चाहिए जो हर सिनेमाघर, नाट्यगृह और लेक्चर-हाल करता है। बाहर एक नोटिस लटका देना चाहिए कि अब सीटें भर गई हैं और दर्शकों को अगले शो तक इन्तज़ार करना होगा। अगर कोई छात्र किसी विख्यात और नामी-गिरामी कॉलेज में जाने का दीवाना होगा तो उसे उसके लिए शायद चार साल का इन्तज़ार करना पड़े और उसके पश्चात ही उसे दाखिला मिले। बहुत से विवेकशील छात्र दूसरे कॉलेजों में, जो शायद इतने प्रतिष्ठित न हों, दाखिला ले लेंगे क्योंकि वहाँ पर लाइन इतनी लम्बी नहीं होगी। भीड़ की समस्या छात्रों की समस्या बने, संस्थाओं की नहीं। इसी प्रकार छात्रों को ही इस बात का निर्णय लेने दें कि वे कॉलेज का कार्य कर पाएँगे या नहीं। जब मैं किसी संगीत-हाल में किसी मुश्किल संगीत को सुनता हूँ तो बाहर निकलते ही उसको लेकर कोई मेरी परीक्षा नहीं लेता। हो सकता है कि वह संगीत इतना क्लिष्ट हो कि मुझे पसन्द ही न आया हो, या मेरी समझ में न आया हो और संगीत-हाल में जाकर मैंने अपने पैसे और समय बर्बाद किए हों। इसे मेरी बदकिस्मती समझें। जब मैं कोई पुस्तक खरीदता हूँ, या नाटक देखता हूँ, या कोई भाषण सुनने या किसी अजायबघर में जाता हूँ, तब भी तो यही बात लागू होती है। छात्रों को भी ये खतरे मोल लेने दें।]

— 1969

शिक्षक बहुत ज़्यादा बोलते हैं

क्या शिक्षक बहुत ज़्यादा बोलते हैं? शायद हाँ, हम बहुत अधिक बोलते हैं। सुबह स्कूल जाने से लेकर शाम को वापिस आने तक हम बोलना बन्द ही नहीं करते। अधिक बोलने से अगले दिन गला खराब होता है, तभी हमें इस बात का आभास होता है।

हम क्या बोलते हैं? कई बार हम कोई जानकारी देते हैं। शायद पाठ का कोई अंश पढ़ते हैं। या फिर हम कोई ऐसी बात बताते हैं जो हमें लगता है कि छात्रों को पता होनी चाहिए – व्याकरण के नियम, स्थानों और घटनाओं के बारे में तथ्य, किसी कविता का सार, किसी पुस्तक का महत्व, आदि। हमें जानकारी देना अच्छा लगता है। इसी में हमें आनन्द मिलता है और यही हमारा पेशा भी है।

कभी-कभी हम कोई प्रयोग दिखाते हैं, या व्याख्या या आलोचना करते हैं, या फिर काम को जाँचते हैं : देखो, लम्बा भाग इस प्रकार किया जाता

है। द्विघाती समीकरणों के गुणनखण्ड इस प्रकार निकाले जाते हैं। इस प्रयोग को इस तरह किया जाता है। रपट इस प्रकार लिखी जाती है। देखो, इस वजह से समस्या का सही उत्तर नहीं आया। तुम्हें इस चित्र के साथ ऐसा करना चाहिए। आखिरी वाक्य पढ़कर आपको शायद कुछ आश्चर्य हो, परन्तु मैंने अपने सीमित अनुभवों में कला-शिक्षकों को भी अन्य शिक्षकों जितना ही बोलते हुए पाया है।

चर्चाओं में प्रमुख

कभी-कभी हम चर्चाएँ भी आयोजित करते हैं। इनमें भी हम आमतौर पर छात्रों से कहीं अधिक बोलते हैं। कुछ समय पहले मैंने एक विडियो-टेप देखा जिसमें एक विशेषज्ञ शिक्षक समाजशास्त्र पर चर्चा सत्र संचालित कर रहा था। उसमें हाईस्कूल के छात्र मुक्त होकर बोल रहे थे, परन्तु वह उनसे कहीं अधिक बोल रहा था। बच्चे उसके प्रश्नों के उत्तर देने का भरसक प्रयास करते, परन्तु वह उनके उत्तरों पर टिप्पणी करने में और अगला प्रश्न पूछने में उनसे कहीं ज़्यादा बोलता।

अधिकांश चर्चाएँ वैसे भी निरर्थक होती हैं। आप किसी भी शिक्षक के मैनुअल को उठाकर देखें। जल्द ही आपको कुछ ऐसा पढ़ने को मिलेगा: "निम्न बिन्दुओं को सामने लाने के लिए चर्चा आयोजित करो...।" चर्चा शुरू होने से पहले ही अधिकांश शिक्षकों के सामने कुछ "बिन्दु" होते हैं जिन्हें वे छात्रों से उगलवाना चाहते हैं। छात्रों को यह पता होता है, इसलिए शिक्षक क्या चाहता है उसके लिए वे सुरागों को खोजने का प्रयास करते हैं। वे कहते हैं, "मेरी समझ में नहीं आया।" या "क्या आप प्रश्न को दोहराएँगे?" "आपने जो कहा उसका मतलब क्या है?..."

धीरे-धीरे शिक्षक के प्रश्न अधिक से अधिक केन्द्रित होते जाते हैं, और अन्त में वह उत्तर की ओर इशारा कर ही देता है। जब शिक्षक को अपना अपेक्षित उत्तर मिल जाता है, वह उसकी कुछ और व्याख्या करता है जिससे कि सभी छात्रों को "सही" उत्तर समझ में आ जाए।

एक बार मैं पाँचवीं कक्षा को गणित पढ़ा रहा था और मैं अपने आपसे काफी खुश था क्योंकि "बताने" या "दिखाने" की बजाय मैं प्रश्न पूछकर उस बच्ची को "सोचने" के लिए बाध्य कर रहा था। पर उसने जवाब नहीं दिया। मैं पहले प्रश्न के बाद कोई अन्य सरल परन्तु ज़्यादा केन्द्रित प्रश्न पूछता। उसके बाद भी जवाब नहीं मिलता। जब मैंने अपनी चुप बैठी छात्रा

की ओर देखा तो वह बिल्कुल भी विचलित नज़र नहीं आई। वह बस चुपचाप बैठी रही। तब मुझे समझ में आया : वह मेरे अगले एकदम केन्द्रित प्रश्न का इन्तज़ार कर रही थी — जिससे उसे सही उत्तर ही पता चल जाता।

अक्सर चर्चाओं का यही हश्र होता है। छात्रों को पता होता है कि शिक्षक को सभी उत्तर मालूम हैं। वे यह भी जानते हैं कि अगर वे धीरज रखकर संकेतों और इशारों का इन्तज़ार करते रहेंगे तो अन्त में शिक्षक उन्हें सही उत्तर खुद ही बता देगा।

शिक्षकों का ज़्यादातर बोलना कक्षा की व्यवस्था को बनाए रखने के लिए बच्चों को सीधी लाइन में बैठाने के लिए ही होता है। कहीं से हमने एक बहुत गलत बात सीख ली है — कि जब सभी बच्चे एक समय पर एक ही काम करते हैं तभी वे सबसे अच्छा सीखते हैं। ऐसा तो कारखानों में होता है।

इस तरह स्कूल के इन बीस-पच्चीस छात्रों के इस समूह को हम एक निश्चित, चुने हुए रास्ते पर ले जाने का प्रयास करते हैं। वे सब के सब उस रास्ते पर नहीं चलना चाहते; शायद उनमें से कोई नहीं; क्योंकि उन सबके दिमाग में अलग-अलग बातें होती हैं जिनके बारे में वे सोचना चाहते हैं या जिन्हें वे करना चाहते हैं। इसीलिए हमें लगातार उन्हें इकट्ठा करके पीछे से हाँकना पड़ता है, बिल्कुल वैसे जैसे कोई कुत्ता भेड़ों के झुण्ड के पीछे दौड़ता है। फर्क सिर्फ इतना है कि यहाँ हमारी आवाज़ कुत्ते की भूमिका अदा करती है।

"अच्छा बच्चो, अब कागज़ और पेंसिल निकालो और किताब का चौंतीसवाँ पन्ना खोलो। हम आज फलाँ काम करेंगे — अरे टॉमी, तुम्हारी पेंसिल कहाँ गई? क्या? अच्छा, तो तुम...। मैंने तुमसे कई बार कहा है कि तुम कक्षा में काम करने की पूरी तैयारी से आया करो। बाकी सभी बच्चे तुम्हारा इन्तज़ार कर रहे हैं। अच्छा, तुम मेरे पास आओ और मुझसे दूसरी पेंसिल ले लो।

"मरिया, तुम हेलेन के कान में फुसफुसाना बन्द करो। क्या तुम्हारी पुस्तक का सही पन्ना खुला है? देखो, अगर तुम दोनों आपस में बातें नहीं कर रही होतीं तो तुम मेरी बात सुन लेतीं।"

यही सिलसिला जारी रहता है। बच्चों को जो काम करना है हम उसकी

पूर्व-तैयारी करवाने के लिए बोलते हैं, और फिर उस काम को पूरा करवाने के लिए बोलते हैं। हम पिछले दिन के होमवर्क के बारे में पूछते हैं और फिर अगले दिन का काम बताते हैं। हम इसलिए बोलते हैं ताकि हरेक छात्र का ध्यान कक्षा में सामने की ओर केन्द्रित रहे।

कुछ समय पहले मैंने एक विशेषज्ञ शिक्षक को देखा। उसके अपनी कक्षा के साथ अच्छे सम्बन्ध थे। वह स्लाइड फिल्म प्रोजेक्टर के ज़रिए बच्चों को अंकगणित पढ़ा रहा था। मैं सोचने लगा कि उसके कितने शब्द वाकई काम से जुड़े थे और कितने वह केवल छात्रों को गोलबन्द और इकट्ठा रखने के लिए इस्तेमाल कर रहा था। कुछ समय बाद यह स्पष्ट हो गया कि कक्षा में काम पर कम, नियंत्रण पर दोगुना-तिगुना बल था। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

ट्यूनिंग आउट

शिक्षकों के बहुत अधिक बोलने का नतीजा है कि बच्चे जो छुटपन में चीज़ों को बहुत ध्यान से सुनते थे, अब उनकी ओर बहुत कम ध्यान देते हैं। अब बच्चे दिल लगाकर नहीं सुनते, जैसे कोई वयस्क उबाऊ बातें सुन रहा हो। जब यही कुछ लम्बे समय तक चलता है तो बच्चे ध्यान से सुनना ही भूल जाते हैं। वे ध्यान से सुनने का मज़ा और तरीका ही भूल जाते हैं। यह बहुत हानिकारक सिद्ध होता है।

शिक्षकों को लगता है कि उन्हें पता है कि बच्चे उनकी बातें सुन नहीं रहे हैं। एक बार मैंने एक अनुभवी शिक्षक को कुछ कठिन समस्याओं का हल समझाते हुए देखा। ताकि बच्चों का ध्यान इधर-उधर न भटके, वह समस्या के हरेक चरण को ब्लैकबोर्ड पर लिखने के बाद किसी एक छात्र से पूछता, "क्या यह ठीक है?" जिस बच्चे से सवाल पूछा जाता वह "हाँ" का जवाब देता और फिर शिक्षक अगला चरण लिखता। यह सब काफी उबाऊ था और मेरा दिमाग बार-बार और चीज़ों के बारे में सोच रहा था। तभी अचानक मेरा ध्यान वापिस कक्षा की ओर लौट आया।

जिस लड़के से उत्तर के ठीक होने के बारे में पूछा गया था, उसने कहा, "नहीं सर, उत्तर गलत है। सही उत्तर इस प्रकार होगा।" शिक्षक ने उसकी बात मानी, गलती ठीक की और फिर पहले की तरह ही आगे बढ़ने लगा। क्लास खत्म होने के बाद शिक्षक ने मुझसे कहा, "आपने देखा कि मैंने बच्चों को कैसे फन्दे में फँसाया। ऐसा मैं अक्सर ही करता हूँ। इससे बच्चों

को हमेशा सर्तक और तैयार रहना पड़ता है।" लेकिन एक बात पर शिक्षक ने गौर नहीं किया। फन्दा फेंकते समय उसकी आवाज़ बदल जाती थी। बच्चे तुरन्त उस संकेत को ताड़ लेते थे और उसे ध्यान से सुनने लगते थे।

हाँ, शिक्षकों को यह पता होता है कि बच्चे उनकी बातों पर ध्यान नहीं देते और बच्चों का ध्यान बनाए रखने के लिए उनके पास कुछ छोटी-छोटी युक्तियाँ होती हैं। परन्तु बच्चे इन युक्तियों को बहुत जल्दी समझ जाते हैं। बच्चे शिक्षक की बातें सुनते हैं, पर उतने ध्यान से नहीं। यह एक खराब बात है।

पर सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि जबकि शिक्षक खूब बोल लेते हैं, वहीं बच्चों को इसका बहुत कम अवसर मिलता है। ज़्यादातर स्कूलों में बच्चे तभी बोल सकते हैं जब शिक्षक उनसे कोई बात पूछता है। बहुत से स्कूलों में दो पीरियडों के बीच के समय में भी बोलने की मनाही होती है। कई स्कूलों में खाने की छुट्टी के दौरान भी बच्चों के बात करने पर पाबन्दी होती है। और मैंने कुछ ऐसे स्कूलों के बारे में भी सुना है जहाँ दोपहर के अवकाश में भी बच्चे एक-दूसरे से बातचीत नहीं कर सकते।

कुछ लोग अवश्य पूछेंगे, "तो इसमें बुराई क्या है? बच्चे स्कूल में सीखने के लिए आते हैं, बातचीत करने के लिए नहीं।" जैसे सीखना एकदम निष्क्रिय कार्य हो, नल से केतली में पानी भरने के समान।

मुश्किल यह है कि बच्चों के साथ ऐसा बर्ताव करने से वे सीखना कम कर देते हैं। क्योंकि सच्ची सीख तभी होती है जब सीखने वाला दोनों भूमिकाएँ एक साथ निभाए – सीखने वाले और शिक्षक की, कर्ता और आलोचक की, सुनने वाले और बोलने वाले की। जो छात्र केवल पुस्तक में लिखी बात को याद करने की कोशिश करेगा वह उसमें भी असफल होगा। कुशल सीखने वाला पुस्तक से बातचीत करता है, तर्क-वितर्क करता है। वह खुद से सवाल पूछता है और सीखने के दौरान लगातार अपनी समझ को जाँचता रहता है। कमज़ोर छात्र को यह पता ही नहीं होता कि उसने क्या समझा है और क्या नहीं। पता लगाने का यह काम वह शिक्षक के ऊपर छोड़ देता है।

किसी भी हुनर – पेंटिग, संगीत, खेलकूद – को सीखते समय सीखने वाले को लगातार उस काम को करके उसका मूल्यांकन करना होता है और

अपनी गलतियाँ समझनी होती हैं। क्या मेरी ताल और लय ठीक है? क्या मैं गेंद को ठीक तरह से देख रहा हूँ? छोटे बच्चे, जो अभी चलना, बोलना और अन्य सैकड़ों चीज़ें सीख रहे होते हैं, इस काम में बहुत निपुण होते हैं। आम तौर पर स्कूल और बेलगाम बोलने वाले शिक्षक ही बच्चों को निष्क्रिय शिष्यों में बदल देते हैं।

— 1967

परीक्षण का आतंक

मैं सच्चाई बयान कर रहा हूँ। लगभग सभी शिक्षाविद् परीक्षण को शिक्षा का एक अभिन्न अंग मानते हैं। मैं इससे बिल्कुल सहमत नहीं हूँ – मेरी राय में परीक्षण न तो ज़रूरी है, न ही उपयोगी, और उसे माफ करना मुश्किल है। परीक्षण से फायदा कम, नुकसान ज़्यादा होता है; उससे सीखने की प्रक्रिया विकृत और भ्रष्ट हो जाती है, रुक जाती है। परीक्षण करने वालों का मानना है कि परीक्षण की तकनीकों में लगातार सुधार हो रहा है और वे अन्त में एकदम दुरुस्त हो जाएँगी। शायद ऐसा हो जाए, परन्तु परीक्षण अच्छा हो जाने के बावजूद उसके खिलाफ मेरी आपत्तियाँ बनी रहेंगी। हमारी प्रमुख चिन्ता परीक्षण को बेहतर बनाने की नहीं, बल्कि उसे पूरी तरह हटाने की होनी चाहिए।

यह तो सही है कि कुछ परिस्थितियों में परीक्षण ज़रूरी हो जाता है। अगर कोई वायलिन बजाने वाला संगीत सभा में भाग लेना चाहता है तो उसकी निपुणता जानने के लिए उससे वायलिन बजाकर दिखाने को कहा जा सकता है। अगर कोई व्यक्ति ऐसे लोगों के साथ काम करना चाहता है

जो अँग्रेज़ी नहीं बोलते तो उसे यह प्रत्यक्ष दिखाना पड़ेगा कि वह उन लोगों की भाषा जानता है। अगर वह इमारतों का डिज़ाइन बनाना और उनका निर्माण करना चाहता है तो उसे यह साबित करना पड़ेगा कि उसका बनाया ढाँचा गिरेगा नहीं। अगर वह सर्जन बनना चाहता है तो उसे कागज़ पर नहीं, ऑपरेशन टेबिल पर, समर्थ लोगों के समक्ष, कुछ लोगों का ठीक से ऑपरेशन करके दिखाना होगा।

कुछ इसी प्रकार से लोग अपनी प्रगति मापने के लिए अपना परीक्षण खुद करते हैं। टाइपिस्ट अभ्यास द्वारा अपनी गति बढ़ाते हैं। संगीतज्ञ अपने सुरों का अभ्यास करते हैं और मुश्किल हिस्सों को मेट्रोनोम नामक यंत्र के सामने बजाते हैं। टेनिस के खिलाड़ी दर्ज़नों बार गेंद को सही कोने में फेंकने का अथक प्रयास करते हैं। हृदय विशेषज्ञ मेंढकों पर ऑपरेशन करके अपनी उँगलियों को तंग स्थानों पर काम के लिए प्रशिक्षित करते हैं। स्केटिंग करने वाले, क्रिकेट के खिलाड़ी, सभी अपने कार्य में दक्ष होने के लिए बार-बार अभ्यास करते हैं। पायलट भी विमान को उतारने का बार-बार अभ्यास करते हैं। समझदार छात्र महत्वपूर्ण जानकारी को फाइल-कार्डों में लगाते हैं जो कि सीखने के तरीकों में सबसे लचीला, प्रभावी और सस्ता तरीका है। संक्षेप में, किसी भी गम्भीर अभ्यास में सीखने वाला लगातार अपनी कुशलता और ज्ञान का परीक्षण करता है।

परन्तु स्कूलों में जिस प्रकार का परीक्षण होता है उसका इस तरह के परीक्षणों से *कुछ भी* लेना-देना नहीं होता।

छात्रों से अक्सर उन गतिविधियों को दिखाने के लिए नहीं कहा जाता जिन्हें उन्होंने अपनी मर्ज़ी से चुना हो। इन गतिविधियों में न तो जान-माल का और न ही किसी संस्था के बर्बाद होने का खतरा होता है। स्कूलों में परीक्षण एकदम अलग कारणों से होते हैं, और आम तौर पर इन कारणों के बारे में हम बहुत ईमानदारी से बात नहीं करते। लोगों से और अपने आप से भी हम शिक्षक यह कहते हैं कि हम बच्चों का परीक्षण इसलिए करते हैं ताकि हम यह जान पाएँ कि उन्होंने क्या सीखा है, जिससे हम सीखने में उनकी और अधिक मदद कर सकें। यह बात पिच्यानवे प्रतिशत गलत है। बच्चों के परीक्षण हम दो प्रमुख कारणों से करते हैं : पहला यह कि उनको डरा-धमकाकर हम उनसे वह सब करा पाते हैं जो हम चाहते हैं। और दूसरा यह कि हमें बच्चों को पुरस्कार व सज़ा देने का एक आधार मिलता है जिसकी नींव पर यह शिक्षा तंत्र — सभी दमनकारी तंत्रों की

तरह — खड़ा है। परीक्षाओं के भय से बच्चे अपना होमवर्क करते हैं, और परीक्षाओं में अच्छा करने की वजह से ही हम कुछ छात्रों को ईनाम और पुरस्कार दे पाते हैं। समाज की तरह, स्कूल की अर्थव्यवस्था भी लालच और भय पर ही चलती है। परीक्षाएँ भय जगाती हैं और लालच को तुष्ट करती हैं।

यह प्रणाली ज़रूरी हो सकती है और शायद इससे बचना भी मुश्किल हो। बच्चे क्या सीखें? हमें इसका निर्णय नहीं लेना चाहिए। मेरी तो यही राय है। हमने जो भी पढ़ाने का निर्णय लिया है उसे क्रियान्वित करने के लिए बच्चों को उनकी सफलता और असफलता के अनुपात में ईनाम और सज़ा देने की बात भी मुझे अटपटी लगती है। परन्तु सच्चाई तो यह है कि सभी स्कूलों में परीक्षण इसीलिए होते हैं। अगर हम सोचते हैं कि परीक्षाएँ किसी अन्य कारण से ली जाती हैं तो यह हमारी बेईमानी का द्योतक है।

बहुत से शिक्षकों और छात्रों का भी यह विश्वास है कि चाहे परीक्षाएँ बच्चों को डराती हों फिर भी वे उनके कार्य की गुणवत्ता का एक सही मापदण्ड होती हैं। मुझे लगता है कि परीक्षाएँ बच्चों को जितना ज़्यादा भयभीत करेंगी, वे उनकी सीख को उतना ही कम माप पाएँगी और सीखने को तो उससे भी कम प्रोत्साहित कर पाएँगी। इसके कई कारण हैं। सबसे स्पष्ट और महत्वपूर्ण कारण यह है — जब किसी छात्र को पता चलता है कि उसे परीक्षा के नतीजों पर आँका जाएगा तो उसका ध्यान परीक्षा सामग्री से हटकर परीक्षक की ओर खिंच जाता है। अब छात्र के लिए पाठ्यक्रम या उसके अर्थ की बजाय यह चीज़ महत्वपूर्ण हो जाती है कि परीक्षक के मन में क्या है। परीक्षा तब एक खोज नहीं, हाज़िर-जवाबी का खेल बन जाती है। परीक्षक, वह चाहे कोई भी हो, अब एक सहायक नहीं, बल्कि शत्रु बन जाता है।

कुछ वर्ष पहले किताबों की एक दुकान में मुझे मेडिकल छात्रों से सम्बन्धित समाजशास्त्र का एक विस्तृत अध्ययन पढ़ने को मिला। मैं उसे बीच-बीच में से पढ़ने लगा, शायद यह जानने के लिए कि क्या मेडिकल छात्र भी उसी भय से डरते हैं जिससे मेरी पाँचवीं कक्षा के बच्चे डरते हैं, और कि क्या वे भी अपने आपको बचाने के लिए उसी तरह के टालू तरीके अपनाते हैं जैसे अन्य बच्चे अपनाते हैं। उनका भी वही हाल है इसका मुझे जल्द ही पता चल गया। इस अध्ययन के लेखकों ने बहुत से, अलग-अलग स्तर के, मेडिकल छात्रों का इंटरव्यू लिया था। इन छात्रों ने बार-बार बताया कि वे मेडिकल कॉलेज में आने के बाद पूरा दिल

लगाकर डॉक्टरी पढ़ना चाहते थे। परन्तु कॉलेज में उनकी लगातार परीक्षाएँ होती रहीं और उन्हें ऐसा लगने लगा कि उनका भविष्य पूरी तरह परीक्षाओं के नतीजों पर निर्भर होगा। जल्दी ही वे डॉक्टरी की बुनियादी पढ़ाई को छोड़कर इम्तहान की तैयारियों में लग गए। कुछ समय बाद वे अपने प्रोफेसरों को आँकने लगे और उन पर लेबल चिपकाने लगे। लेबल शिक्षकों की कुशलता और ज्ञान पर नहीं, बल्कि उनके "न्यायसंगत" होने पर आधारित थे। "न्यायसंगत" प्रोफेसर वे थे जिनकी परीक्षाओं का पूर्व-अनुमान लगाकर विषय की तैयारी की जा सके।

मुझे खुद परीक्षाएँ अक्सर फँसाने का एक जाल और परीक्षक एक शत्रु जैसा लगता रहा है – ऐसी स्थितियों में भी जब परीक्षक मेरा कुछ बिगाड़ नहीं सकता था। मेरा एक छात्र है जो पुराने अखबारों और पत्रिकाओं में से खुद-करो-और-जाँचो वाली पहेलियों को काट लेता है और कभी-कभी मुझे उनको हल करने की चुनौती देता है: "ज़रा देखें, आप कितने होशियार हैं!" या "देखें, आप इन्हें कितनी तेज़ी से कर पाते हैं!" या ऐसा ही कुछ और। मुझे अचानक लगता है जैसे किसी ने मुझ पर लड़ाई छेड़ दी हो, जैसे कोई मुझे पागल बना रहा हो। अगर वह छात्र मुझ से उन पहेलियों के कुछ सवाल पूछता है – वैसे मैं उसे इसका मौका ही नहीं देता – तो मैं अपने आपको यह सोचता हुआ पाता हूँ, "इसमें चाल क्या है? यह बन्दा आखिर चाहता क्या है? इसके दिमाग में क्या चल रहा है?" तब मैं एक द्वन्द्व में फँस जाता हूँ, जैसे शतरंज के खेल में होता है।

अगर परीक्षा एक ऐसा खेल हो जिसमें प्रतिद्वन्द्वी आपको मात देने की भरसक कोशिश कर रहा हो तो उसको हराने का हर तरीका जायज़ हो जाता है। यही बात आम तौर पर नकल की जड़ में है, खास तौर पर "अच्छे" स्कूलों में जहाँ नकल बहुत प्रचलित है और जहाँ बहुत सारे सफल छात्र भी इसमें माहिर होते हैं। शिक्षक के सामने, ज्ञान के अभाव में भी, अपना ज्ञान दिखा पाने और नकल के बीच कोई खास अन्तर नहीं है। जो भी हो, जो छात्र घोर दबाव में काम करते हैं वे तो इस अन्तर को नज़रअन्दाज़ करते ही हैं, बहुत से शिक्षक भी ऐसा करते हैं। जब शिक्षकों को उनके छात्रों के मानक परीक्षाओं में अंकों के आधार पर आँका जाता है तो वे छात्रों के साथ मिलकर अपने सामूहिक शत्रु का जी-जान से मुकाबला करते हैं। अधिकांश स्कूलों और शिक्षकों का व्यवहार इस बारे में बिल्कुल अनैतिक होता है। मैंने पाँचवीं के ऐसे बच्चों को पढ़ाया है जिन्हें पिछली कक्षाओं में अंकगणित में अच्छे अंक मिले थे परन्तु ये बच्चे

जोड़ना-घटाना भी ठीक से नहीं जानते थे। फिर परीक्षाओं में उन्हें अच्छे अंक कैसे मिले? ज़ाहिर है कि शिक्षकों ने छात्रों को बहुत रट्टा लगवाया होगा। कई बार मुझसे भी रटवाने के लिए कहा गया है। "बच्चों की समझ में आए या नहीं, उपयोगी है या नहीं, इसको छोड़ो। बस यह देखो कि परीक्षा में बच्चों के अच्छे नम्बर आएँ।" क्या यह एक तरह की नकल नहीं है?

क्या परीक्षा का जाल होना ज़रूरी है? किसे ईनाम मिले, और किसे सज़ा — जब परीक्षा इस बात को निर्धारित करने लगती है तो वह जाल बन ही जाती है। कौन निर्धारित करेगा? चर्चिल ने हैरो के अपने अनुभवों को इनसे कहीं ज़्यादा प्रभावशाली शब्दों में कहा था। उनके अनुसार उन्हें क्या आता था इसे जानने में उनके शिक्षकों की कोई रुचि नहीं थी। उन्हें क्या नहीं मालूम था वे सिर्फ यह पता करना चाहते थे। यह बात सामान्यतः सच है। इसलिए नहीं कि सभी शिक्षक शत्रु होते हैं, बल्कि इसलिए कि यह इसी तंत्र की माँग है जहाँ हमेशा भेड़-बकरियों को छाँटकर अलग कर दिया जाता है। अब ज़रा परीक्षक की कठिनाइयों को लें। जिस छात्र ने विषय को थोड़ा भी पढ़ा हो वह उसके बारे में घण्टों तक लिख सकता है। उदाहरण के लिए, आठवीं के बाद मैंने अमरीकी इतिहास को छुआ तक नहीं है और मैं उसे लगभग भूल चुका हूँ। इस विषय के बारे में मुझे जो कुछ भी मालूम है उसे मैंने इधर-उधर की किताबों में पढ़ा है जिन्हें इतिहास की पुस्तकें कहना गलत होगा। तब भी अगर मुझसे अमरीकी इतिहास के बारे में लिखने के लिए कहा जाए तो मैं बहुत से पन्ने भर डालूँगा, शायद एक पुस्तक या कई पुस्तकें लिख डालूँ। तब आप ही बताएँ, भला कोई मेरे ज्ञान को, या इतिहास के किसी छात्र के ज्ञान को, एक घण्टे या तीन घण्टे में कैसे आँक सकता है? यह एक असम्भव कार्य है। अगर शिक्षक एक ऐसी परीक्षा देता है जिसमें छात्र अपने ज्ञान को दर्शा सकें, तो जल्द ही समय खत्म हो जाएगा और तब भी छात्रों का बहुत कुछ लेखन शेष बचा रहेगा, और शिक्षक को मूल्यांकन के दौरान झक मारकर सभी छात्रों को समान अंक देने होंगे क्योंकि उसके पास और कोई तरीका होगा ही नहीं। पर यह बात उसके अधिकारियों को नहीं पचेगी। हरेक स्कूल में बच्चों के बीच अन्तर पैदा करना ही शिक्षक का काम है — क्योंकि *हरेक छात्र* तो हार्वर्ड विश्वविद्यालय जा नहीं सकता — इसलिए शिक्षक का काम ऐसे प्रश्न पूछना होता है जिनका कम-से-कम कुछ छात्र तो उत्तर न दे पाएँ। संक्षेप में, चर्चिल के शिक्षकों की तरह ही उसका काम भी बच्चों

की अज्ञानता को बाहर लाना है ताकि किसे पुरस्कार मिले और किसे सज़ा इसका वह "निष्पक्ष" रूप से निर्णय ले सके।

परीक्षाओं के खिलाफ मुझे अन्य आपत्तियाँ भी हैं। परीक्षाओं से उन छात्रों को ही सज़ा मिलती है जो धीरे काम करते हैं। परीक्षाएँ उनका ही साथ देती हैं जो अनुमान लगाने में चतुर होते हैं, जो हिसाब में तेज़ होते हैं। परन्तु जो छात्र अपने काम को सावधानी से पूर्ण रूप में करते हैं, परीक्षाएँ उनके पक्ष में नहीं होतीं। सबसे ज़्यादा नुकसान उन छात्रों का होता है जो परीक्षाओं के बारे में फिक्र करते हैं। भय के कारण ऐसे छात्र परीक्षाओं में अपने ज्ञान को पूरी तरह प्रदर्शित नहीं कर पाते हैं। ऐसी हरेक परीक्षा जिसमें वे फेल होते हैं उनके दिल में अगली परीक्षा के प्रति एक खौफ पैदा कर देती है। ऐसे अनगिनत छात्रों के बारे में परीक्षाएँ भ्रम पैदा करती हैं या बेकार साबित होती हैं जो पास होने की कोई कोशिश ही नहीं करते। ऐसे बहुत से छात्र हमारे शहरों में हैं। अक्सर वे जानबूझ कर फेल होते हैं, शायद अपनी इज़्ज़त बचाने के लिए, शायद अपने पालकों को दुख पहुँचाने के लिए, या फिर उस तंत्र से लड़ने के लिए जिसे वे नफरत करते हैं।

हो सकता है कि जब हमें लगता है कि परीक्षाएँ सही काम कर रही हैं तभी वे सबसे अधिक नुकसान पहुँचाती हैं। मैं अक्सर अपने छात्रों से परीक्षाओं और मूल्यांकन के बारे में लम्बी चर्चाएँ करता हूँ। उनमें से कई बुद्धिमान और सफल छात्र प्रतिष्ठित कॉलेजों में जाने की तैयारी में हैं। आश्चर्य की बात यह है कि उनमें से बहुत से छात्र इस तंत्र को, जिसके खिलाफ कभी वे लड़ते थे, शिकायत करते थे, बचाने की बात करते हैं। वे गुस्से में उत्तेजित होकर कहते हैं, "अगर परीक्षाएँ नहीं होंगी और हमें नहीं आँका जाएगा तो हमें कैसे पता चलेगा कि हम कुछ सीख रहे हैं या नहीं? हम ठीक कर रहे हैं या नहीं?" यह सुनकर मुझे बहुत दुख होता है। मुझे दो-तीन वर्ष के उन बच्चों की याद आती है जो लगातार अपनी बोली की तुलना अपने आसपास के लोगों की बातचीत से करते रहते हैं। मुझे पाँच-छह वर्ष के वे बच्चे याद आते हैं जिन्होंने खुद पढ़ना सीखा था, पन्ने के हरेक नए शब्द को खुद समझा था। वे जो भी सीखते थे उसकी पिछली बातों से लगातार तुलना करते थे। फिर मुझे पाँचवीं के वे बच्चे याद आते हैं जो अंकगणित के पर्चे थमाकर मुझसे चिन्तित भाव में पूछते थे, "क्या यह ठीक है?" और जब मैं उनसे पूछता था, "तुम्हारा क्या विचार है?" तो वे मेरी तरफ ऐसे घूरने लगते जैसे मैं कोई पागल होऊँ। उनके सोचने

से क्या कोई फर्क पड़ता था? अक्सर सही बातों का वास्तविकता और समझदारी से कुछ लेना-देना नहीं होता। शिक्षक के मुँह से निकली बात ही सही होती है। "सही" ज्ञात करने का भी एक ही तरीका होता है – उसे शिक्षक से पूछो। स्कूलों में बच्चों के साथ जो सबसे बड़ी ज़्यादती हम करते हैं वह यह है कि हम उन्हें अपने काम का खुद मूल्यांकन करने का मौका ही नहीं देते। इससे बच्चों की खुद निर्णय लेने की और अपने निर्णयों में यकीन करने की शक्ति नष्ट हो जाती है।

अभी तक जो कुछ भी मैंने कहा है वह एक अनिवार्य प्रणाली की परीक्षाओं पर लागू होता है। परन्तु मुक्त प्रणालियों में, जहाँ छात्रों के साथ कोई ज़बरदस्ती नहीं होती, वहाँ भी परीक्षाओं पर मुझे सख्त आपत्तियाँ हैं। ये आपत्तियाँ सोच की प्रकृति, ज्ञान और सीखने और शिक्षा की धारणाओं पर आधारित हैं। आगे की कहानी शायद इस मसले पर कुछ प्रकाश डाले।

सालों पहले मैं एक आन्दोलन में सक्रिय था जिसका उद्देश्य एक विश्व-सरकार का निर्माण करना था। एक दिन मुझे एक पुराना मित्र मिला जिसे मैं बहुत समय से नहीं मिला था। उसने पूछा कि मैं आजकल क्या कर रहा हूँ। जब मैंने उसे अपने काम के बारे में बताया तो वह मुझसे झगड़ा करने लगा। उसे लगा कि मैं अपना समय बर्बाद कर रहा था और एक खराब, नुकसान पहुँचाने वाला काम रहा था। उसका मत प्रचलित किस्म का थाः विश्व-सरकार की बात करना संयुक्त राष्ट्र संघ की गरिमा को कम करना और उसे नष्ट करने में हाथ बँटाना था। उस समय तक मैं यह सीख चुका था कि अन्तरंग मित्रों के साथ बेकार के वाद-विवाद में नहीं पड़ना चाहिए; उसकी बजाय यह जानने की कोशिश करनी चाहिए कि उनके मत के पीछे क्या सोच काम कर रही थी। मैंने उसे बोलने के लिए प्रोत्साहित किया। धीरे-धीरे, भोजन के दौरान, उसका विश्व दृष्टिकोण मुझे स्पष्ट होने लगा। खाना खत्म होने तक वह चीन को अमरीका का सबसे बड़ा शत्रु बता रहा था। उसका मत था कि अमरीका को, आणविक शस्त्रों पर अपने वर्चस्व के चलते, चीन पर कब्ज़ा करना चाहिए। जहाँ तक संयुक्त राष्ट्र संघ का सवाल था वह एक बेकार का और खतरनाक रोड़ा था, जिससे अमरीका को जल्द-से-जल्द निकल जाना चाहिए।

दो घण्टे से कम समय में ही मेरे मित्र ने पहले तो यह चिन्ता व्यक्त की कि मैं संयुक्त राष्ट्र संघ को कमज़ोर करने में लगा हूँ और फिर संयुक्त राष्ट्र संघ को ही बेकार और खतरनाक करार दिया। उसके द्वारा बड़ी

ईमानदारी और उत्साह से व्यक्त किए परस्पर विरोधी विचार सुनकर मुझे ज़बरदस्त झटका लगा। धीरे-धीरे मैं समझ गया कि ऐसी घटनाएँ एक आम बात हैं। बुद्धिमान और जानकार लोग कुछ ही समय के दौरान अक्सर परस्पर विरोधी विचार व्यक्त करते हैं। मतगणना कराने वाले लोग यह बात जानते हैं कि प्रश्न को थोड़ा-सा बदल देने से, या उसके सन्दर्भ में अन्तर करने से काफी भिन्न-भिन्न उत्तर मिलते हैं। वियतनाम युद्ध पर हुई अनेक मतगणनाओं से लोगों में कई परस्पर विरोधी मत और विचार होने का पता चला है। कुछ साल पहले तक ऐसा साफ लगता था कि अमरीका में अधिकांश श्वेत लोग नीग्रो लोगों की समानता की इच्छा और माँग का समर्थन करते हैं। परन्तु बाद की घटनाओं से यह स्पष्ट हुआ कि यदि यह समानता श्वेत लोगों की ज़िन्दगी पर असर डालेगी तो उनमें से ज़्यादातर उसका सख्ती से विरोध करेंगे। इसका यह मतलब नहीं कि पहले वे झूठ बोल रहे थे; उन्हें इस बात का पता ही नहीं था कि वे बाद में अपना मत बदल लेंगे।

बहुत कम लोगों को ही यह पता होता है। और यही वह प्रमुख और बुनियादी कारण है जिसकी वजह से मैं परीक्षणों की गुणवत्ता को शक की निगाह से देखता हूँ। हम किसी दूसरे के मस्तिष्क के अन्दर के सोच-विचार कैसे माप सकते हैं जबकि हमें खुद अपने विचारों का केवल थोड़ा सा अंश ही पता होता है? मनुष्य का मनोविज्ञान — विचारों और भावनाओं का मनोविज्ञान, प्रतीति का नहीं — अभी एक आरम्भिक विज्ञान है। उसके अभ्यासकर्ताओं के बीच कई बातों पर भारी मतभेद हैं। परन्तु एक बात पर सभी सहमत हैं — कि बहुत-सी अहम बातों के बारे में हमें अभी कुछ भी नहीं पता है। अपने दिमाग के छोटे-से अंश को भी जान पाना एक बहुत धीमा, सूक्ष्म, मुश्किल और अक्सर दुखदाई काम होता है। तो फिर यह पूछा जा सकता है कि हम दूसरों के दिमाग की बातों को निश्चितता से कैसे जान सकते हैं?

हाँ, यह कहा जा सकता है कि कोई व्यक्ति अपने पिता के बारे में क्या महसूस करता है इसे पता कर पाना अगर असम्भव नहीं तो मुश्किल ज़रूर हो सकता है। परन्तु वह व्यक्ति ज्यामिति, शेक्सपियर या विद्युत इंजीनियरिंग के बारे में क्या जानता है इसे आसानी से पता किया जा सकता है। इस बात में कुछ सच्चाई है। ज़्यादातर आदमी इनकम-टैक्स के विषय में अपनी सोच को अपने परिवारजनों के बारे में अपनी सोच की तुलना में बेहतर जानते होंगे, और शायद इनकम-टैक्स सम्बन्धी उनके

विचार उनकी सच्ची सोच के काफी करीब होंगे। परन्तु केवल काफी करीब और केवल कभी-कभार ही। हमारे दिमाग में शब्दों की लड़ियाँ होती हैं – नियम, सूक्तियाँ, सिद्धान्त – जो हमें कुछ विशेष परिस्थितियों में ढाँढस देती हैं और उनके उपयुक्त होती हैं परन्तु जिनका इस चीज़ से कुछ खास लेना-देना नहीं होता कि हम वास्तव में किस चीज़ में विश्वास करते हैं या अपना जीवन कैसे चलाते हैं। संक्षेप में, जिन बातों को हम रोज़मर्रा की ज़िन्दगी में बड़ी ईमानदारी से कहते हैं वे शायद हमारे असली विचारों से बहुत दूर हों।

हो सकता है कि कभी हमारा समाज स्वयं के बारे में ज्ञान को हमारे चारों तरफ की दुनिया के बारे में ज्ञान के मुकाबले ज़्यादा अहमियत दे और सभी लोग दार्शनिक बन जाएँ, जो कि कुछ हद तक होना भी चाहिए। हो सकता है हम यह जानने लगें कि हम खुद क्या सोचते हैं, परन्तु फिर भी हमारे लिए अन्य लोगों के, विशेषकर बच्चों के, विचारों को जानना एक बहुत मुश्किल काम होगा। इंग्लैण्ड में लाईचेस्टर के स्कूली सलाहकार टोनी कैलेट के एक अप्रकाशित पर्चे का यह अंश शायद इस मुद्दे पर कुछ प्रकाश डालेः

पियाजे को लागू करने पर कुछ विचार

यहाँ एक फिल्म की प्रतिलिपि का छोटा-सा अंश दिया गया है। फिल्म बताती है कि शिक्षक कक्षा में बच्चों की गणित की प्रगति को जानने के लिए पियाजे के प्रयोगात्मक तरीकों का कैसे उपयोग कर सकते हैं। यह फिल्म "बच्चे और गणित" नामक एक ृंखला का भाग है जिसे नफील्ड फाउंडेशन ने बी. बी. सी. के लिए बनाया है। जिस दृश्य की प्रतिलिपि यहाँ दी गई है उसमें एक वयस्क (मेरा ख्याल है बच्चे का नियमित शिक्षक नहीं) और एक छह-सात साल का लड़का है। उनके सामने मेज़ पर तीन ट्यूलिप और छह-सात डेज़ी के फूल पड़े हैं।

वयस्कः फूल ज़्यादा हैं या डेज़ी?

बच्चा : डेज़ी ज़्यादा हैं।

वयस्कः डेज़ी ज़्यादा हैं। अच्छा। अब, मैं सोच रहा हूँ कहीं फूल तो ज़्यादा नहीं हैं, क्योंकि डेज़ी भी तो फूल ही हैं। क्यों, यह ठीक है न?

बच्चाः हाँ।

वयस्कः और ट्यूलिप भी तो फूलों का ही एक भाग हैं?

बच्चाः ....[कोई उत्तर नहीं देता]

वयस्कः क्या यह ठीक है?

बच्चाः हाँ।

वयस्कः तो फिर ये सभी-के-सभी फूल ही हैं। अब, मुझे लगता है कि ये सभी फूल हैं, परन्तु [इंगित करता है] केवल यही डेज़ी हैं। इसलिए मुझे लगता है कि डेज़ी की तुलना में फूल ज़्यादा हैं।

बच्चाः .....

वयस्कः अब, क्या तुम्हें यह ठीक लगता है?

बच्चाः .....। [काफी देर रुकने के बाद] नहीं।

वयस्कः [दबी हुई हँसी के साथ] क्या फूल ज़्यादा हैं या डेज़ी?

बच्चाः डेज़ी ज़्यादा हैं।

वयस्कः डेज़ी ज़्यादा हैं।

टीकाकारः भला कौन इसकी कल्पना करेगा कि किसी बच्चे का दुनिया के बारे में ऐसा नज़रिया हो सकता है।

भला कौन?

• .....लेकिन मैं यह भी कहना चाहता हूँ कि जिस तरह की प्रयोगात्मक स्थिति का यहाँ चित्रण है वह, मेरी राय में बच्चे द्वारा सोचे गए कम-ज़्यादा, भाग-सम्पूर्ण के रिश्तों पर उतना प्रकाश नहीं डालती जितना इस बात पर कि वह अपनी इच्छा से, या यहाँ पर अपनी इच्छा के खिलाफ, कक्षा में किसी वयस्क के साथ संवाद करने को मजबूर है। इस स्थिति के नियम दोनों को पता हैं। बच्चे को सिर्फ यह पता करना है कि वयस्क उससे क्या उत्तर चाहता है और वयस्क का काम है कि वह इस कार्य को बच्चे के लिए सरल बनाए.....

तो, यहाँ जो सबूत पेश किए गए हैं उनके आधार पर बच्चे की भाग-सम्पूर्ण के रिश्ते की समझ के बारे में कुछ भी कह पाना कठिन है। बहुत सम्भव है कि इस बारे में उसकी समझ कमज़ोर हो, परन्तु मैं आत्मविश्वास के साथ कह सकता हूँ कि अगर भाग-सम्पूर्ण के रिश्तों को किसी *अर्थपूर्ण* [इस शब्द पर ज़ोर मैंने दिया है – होल्ट] स्थिति में ठोस चीज़ों के सहारे तय किया गया होता तो बच्चा इस अमूर्त शाब्दिक लेनदेन की तुलना में उसमें कहीं अधिक समझ दिखाता। जिस स्थिति को हमने अभी देखा

उसमें तो बच्चा अपने सामने रखी चीज़ों के बारे में सोचने के लिए भी स्वतंत्र नहीं था। •

मेरी टिप्पणियों की तुलना में मिस्टर कैलेट की टिप्पणियाँ अधिक उदार और सन्तुलित हैं। मुझे बच्चे और वयस्क के बीच का यह इंटरव्यू एकदम अन्यायपूर्ण, लगभग खौफनाक लगा। मेरे लिए यह और भी अन्यायपूर्ण बात है कि इसका मनोविज्ञान में नए शोध के एक उदाहरण के तौर पर खूब प्रचार-प्रसार किया गया, और कि सब लोगों ने इसे बिना विरोध के चुपचाप स्वीकार कर लिया।

मिस्टर कैलेट आगे कहते हैं:

• मैं पिछले कई सालों से वयस्कों और बच्चों से यह पूछता रहा हूँ कि उनके परिवार में बच्चे ज़्यादा हैं या लोग। इससे कई रोचक बातें निकली हैं। नीचे एक संवाद दिया गया है:

मैं: तुम्हारे परिवार में कितने बच्चे हैं?

बच्चा: तीन।

मैं: बड़े कितने हैं?

बच्चा : दो।

मैं: क्या बच्चे लोग होते हैं?

बच्चा : हाँ। [नौ-दस साल की उम्र तक भी बच्चे अक्सर इस प्रश्न पर आकर रुकते हैं, और सोचते हैं।]

मैं: अब बताओ, तुम्हारे परिवार में बच्चे ज़्यादा हैं, कि लोग ज़्यादा हैं?

बच्चा: बच्चे ज़्यादा हैं।

दिए गए कुछ वैकल्पिक उत्तर इस प्रकार हैं: (1) क्या? आप यह नहीं पूछ सकते; (2) हाँ, ज़्यादा बच्चे ही तो होने चाहिए; (3) हूँ? आपका मतलब क्या है? मैं इतना अवश्य कह सकता हूँ कि जिन बीस बच्चों से मैं यह प्रश्न पूछता था, उनमें से बारह वर्ष से कम के केवल एक-दो बच्चे ही इनका सही उत्तर दे पाते थे। साथ ही, कई बुद्धिमान वयस्कों ने भी मुझे इसी प्रकार के उत्तर दिए। ध्यान रहे कि अगर मेरा प्रश्न होता, "ज़्यादा बच्चे हैं या वयस्क ज़्यादा हैं?" तब मुझे ठीक उत्तर मिलते। •

जब मैंने पहली बार पियाजे के भाग-सम्पूर्ण सम्बन्धी प्रयोगों के बारे में पढ़ा

तो मुझे लगा कि चाहे बच्चों से कुछ भी कहा जाए वे हमेशा मोती, फूल या और किसी भी चीज़ के समूह के एक भाग की तुलना दूसरे बचे हिस्से से करते थे। ऐसी तुलना करने की उनकी आदत थी, और इसी तरीके में उन्हें कुछ मतलब दिखाई पड़ता था। बच्चों के साथ कुछ प्रयोगों ने इस बात की पुष्टि भी की। दोनों समूहों में जो भी बड़ा होता, बच्चे उसे ही ज़्यादा बताते। क्योंकि कुछ वयस्कों ने भी मिस्टर कैलेट को "गलत" उत्तर दिया इससे लगता है वे भी बच्चों की तरह ही प्रश्न को समझते हैं। इसके अलावा, मुझे लगता है कि अगर शुरू में बच्चा डेज़ी-फूल या बच्चों-वयस्कों वाले प्रश्न अपेक्षा के अनुसार समझ भी गया होता तब भी वे प्रश्न उसे जल्द ही एकदम ऊट-पटांग लगने लगते। असल में ये प्रश्न हैं ही ऊट-पटांग। अगर कोई अचानक ही मुझसे यह पूछ बैठता कि मेरे परिवार में मर्द ज़्यादा हैं या लोग, तो सम्भवतः मैं निम्नलिखित उत्तर देताः (1) कृपया अपने प्रश्न को दोहराएँ। (2) कहीं आप मज़ाक तो नहीं कर रहे? (3) आपका मतलब क्या है? मैं कभी उम्मीद भी नहीं कर सकता कि कोई प्रश्नकर्ता मुझसे इस बेवकूफी भरे सवाल का कोई गम्भीर उत्तर चाहेगा।

अब मैं आपको एक वैकल्पिक प्रयोग सुझाता हूँ। मान लें हमारे पास दो फोटो हैं। एक में परिवार के केवल बच्चे हैं और दूसरे में परिवार के *सभी* सदस्य हैं – बच्चे और वयस्क दोनों। अब हम बच्चों से पूछें कि किस फोटो में ज़्यादा लोग हैं। क्या हम सोच सकते हैं कि चार वर्ष से बड़ा कोई भी बच्चा इसका गलत जवाब देगा? फिर भाग-सम्पूर्ण के मसले पर इतनी उलझन क्यों? मेरी राय में यह उलझन मूलतः शाब्दिक है। यह इस कारण पैदा होती है क्योंकि बच्चे कुछ शब्द-लड़ियों को उस तरह से नहीं समझते जैसे हम चाहते हैं कि वे समझें।

इसलिए हम, और बच्चे भी, अपने विचारों को जानते हुए भी परीक्षण के दौरान दो गम्भीर गलतियाँ अवश्य करते। ये गलतियाँ परीक्षण की स्थिति में ही निहित होती हैं। पहली तो भाषा की सीमाओं से पैदा होती है। प्रश्नकर्ता जो कुछ पूछना चाहता है उसे चाहकर भी सही शब्दों में रख पाने में खुद को असमर्थ पाता है। और कई बार वह ऐसा करना भी नहीं चाहता। उत्तर देने वाला भी अपने जवाब को सही शब्दों में व्यक्त कर पाने में असमर्थ महसूस करता है। दूसरी गलती इस बात से पैदा होती है कि प्रश्न पूछने के दौरान हमेशा ही कोई मूल्यांकन होता है, और इसलिए वहाँ

एक खतरा होता है। इसका असर दोनों तरफ के विचारों और शब्दों पर होता है। प्रश्न पूछने वाला जवाब देने वाले को इस या उस तरफ धकेलने से बच नहीं सकता। यह इस बात पर निर्भर करता है कि वह क्या चाहता है। दूसरी तरफ, जवाब देने वाले को यह समझ में नहीं आता कि प्रश्नकर्ता कौन-सा जवाब चाहता है, और वह उसे दे या न दे। इससे भागा नहीं जा सकता। अगर मुझसे कोई प्रश्न पूछता है तो पहला सवाल जो मेरे ज़हन में आता है वह यह है कि "वह मुझसे यह प्रश्न क्यों पूछ रहा है?" मेरा जवाब मेरी इस समझ पर निर्भर करेगा कि वह आखिर मुझसे क्या चाहता है। जोज़ेफ कॉनरेड के उपन्यास *विक्ट्री* में हेयिस्ट और लीना के बीच के दुखद वार्तालाप से एक बात साफ हो जाती है। उलझन और शक भरे शब्दों के उपयोग से दो प्रेमियों के बीच का संवाद भी बन्द हो सकता है। ऐसे दुखदाई अनुभव से बहुत से लोग परिचित होंगे।

मुझे दूसरी के उस छात्र की याद आ रही है जो बुद्धिमान, परेशान और विद्रोही था और न जाने क्यों अपने माता-पिता से बेहद नाराज़ था। मैं उसे, उसकी मर्ज़ी के खिलाफ, पढ़ना सिखाने की कोशिश कर रहा था, जिसमें मैं पूर्णतः असफल था। एक दिन हमारे स्कूल की मनोवैज्ञानिक (एक समझदार और संवेदनशील महिला) ने स्टैनफोर्ड-बिनेट नामक परीक्षण की मदद से उसका बुद्धि परीक्षण किया। कुछ देर बाद मेरी उनसे उस छात्र के बारे में चर्चा हुई। महिला ने कहा, "क्या आपको इस छात्र के परीक्षण के बारे में एक रोचक बात पता है? उसने निचले स्तर के प्रश्नों की तुलना में उच्च स्तर के कहीं अधिक प्रश्नों का उत्तर दिया है।" काफी देर चर्चा के बाद हमें लगा कि वह छात्र शायद सरल प्रश्नों के प्रत्यक्ष उत्तर देने से डर रहा था। उसे भय था कि कहीं परीक्षक उसके साथ कोई खेल तो नहीं खेल रहा था। कई सरल प्रश्नों पर मनन करते हुए मैंने भी ऐसा ही महसूस किया था, "सवाल इतना आसान तो नहीं हो सकता। नहीं तो भला वे मुझसे पूछते ही क्यों।"

मैं एक बार दुबारा मिस्टर कैलेट की ओर वापस चलता हूँ।

- ... फ्रोएबल इंस्टीट्यूट की जोन टैम्बूरिनी ने मुझे पिछले वर्ष अपनी एक छात्रा के बारे में बताया जो पियाजे के समूहीकरण के प्रयोगों में से एक को दुबारा करने का प्रयास कर रही थी। प्रयोग में बच्चे को कारों, लोगों, बर्तनों, गहनों आदि के छोटे-छोटे मॉडल दिए जाते हैं। फिर उसे समान चीज़ों को अलग-अलग समूहों में रखना होता है। छोटे बच्चे अक्सर

इन समूहों को किसी सतही प्रणाली के आधार पर बनाते हैं : शायद वे कार को प्लेट के साथ इसलिए रखते हैं क्योंकि वे कुछ दिन पहले पिकनिक मनाने गए थे, इत्यादि। गतिविधि के अन्त में टैम्बूरिनी की छात्रा ने बच्चों से सभी मॉडलों को वापस डिब्बे में रखने के लिए कहा। इस बार बच्चों ने बड़ी आसानी और सहजता से सभी टुकड़ों को उनके सही समूहों में रखा — सारी कारें एक-साथ, बर्तन एक-साथ, आदि। इससे बच्चों की समूहीकरण की क्षमता के बारे में हम क्या अन्दाज़ लगाएँ? इसका परिणाम एकदम स्पष्ट है। जब बच्चों को कुछ चीज़ें खेलने के लिए दी जाएँगी तो वे उनसे खेलेंगे, और उस खेल के अपने खास नियम होंगे। परन्तु जब इन बच्चों से चीज़ों को सँभालने को कहा जाएगा तो वे बड़ों के "तर्क" के अनुसार उनका समूहीकरण करेंगे। क्या बच्चों में समान और असमान वस्तुओं को साथ-साथ रखने की क्षमता होती है, या नहीं? लगता है यह इस बात पर निर्भर करता है कि उन्हें क्या काम दिया गया है। •

हाँ, बिल्कुल सही। और यही प्रत्येक परीक्षक की अन्तिम और अनिवार्य समस्या होती है। वह एक निश्चित उत्तर चाहता है। वह उसके बारे में कैसे पूछे? वह क्या कहे? अगर वह अपने सवाल को बहुत स्पष्टता से पूछता है तो प्रश्न के साथ-साथ वह उत्तर भी दे डालता है। मेरे पाँचवीं के बच्चे, ज़्यादातर बच्चों की तरह ही, शिक्षक से ऐसे बेबाक प्रश्न पूछने में माहिर थे जिनमें उत्तर भी पूँछ की तरह लटका हो। अगर शिक्षक प्रश्न को स्पष्ट तरीके से नहीं पूछता है तो लोगों द्वारा प्रश्न को गलत समझने का डर रहता है। सबसे खराब बात तो यह है कि शिक्षक को शायद यह पता ही न चले कि उसे गलत समझ लिया गया है। और वह, तमाम शिक्षाविदों और मनोवैज्ञानिकों की तरह ही, इन गलत उत्तरों के आधार पर किन्हीं संदिग्ध निर्णयों पर पहुँच सकता है।

मैं उसी बात को दोहराता हूँ। अगर हम टेलीपेथी नहीं जानते तो हम किसी दूसरे के दिमाग में जो कुछ भी चल रहा है उसके केवल एक छोटे से अंश का अन्दाज़ भर लगा सकते हैं। पर इससे हमें परेशानी क्या है? शायद कोई नहीं। हम केवल अपनी उत्तेजना और असुरक्षा से बचने के लिए ही लगातार यह जानना चाहते हैं कि बच्चे क्या सीख रहे हैं, या कि वे क्यों सीख रहे हैं। इसकी बजाय सच्ची शिक्षा जो चीज़ हमसे चाहती है वह है विश्वास और हिम्मत। विश्वास इस धारणा में कि बच्चे इस दुनिया को समझने के लिए तत्पर हैं और उसके लिए वे कड़ी मेहनत करेंगे। और

हिम्मत इस बात के लिए कि हम उन्हें यह काम अपने आप करने दें; हम उनके इस काम में बार-बार दखल न दें, बार-बार उसकी टोह लेने की कोशिश न करें, बार-बार उन्हें हाँकें नहीं।

क्या यह बहुत मुश्किल है?

— 1968

सुनहरे नियमों वाले दिन ढले

हमारे स्कूलों में अनिवार्य हाज़िरी के नियम अच्छी शिक्षा में एक बड़ी अड़चन हैं। इनमें लचीलेपन और सुधार की ज़रूरत है। ऐसे नियमों को उखाड़ फेंकने और कोर्ट-कचहरी में चुनौती देने की ज़रूरत है।

कभी यह मुझे बच्चों के हक में लगता था। परन्तु अब मुझे यह स्कूलों के हक में भी लगने लगा है। अब इस बात का समय आ गया है कि हमारे स्कूल जेल के धन्धे से बाहर निकलें, या हम उन्हें इसमें से निकालें। इसमें किसी को शक नहीं कि वे यही धन्धा करते हैं। आम जनता ने ही तो हमारे स्कूलों से कहा है, "साल में एक सौ अस्सी दिन, रोज़ाना हमारे बच्चों को छह या उससे ज़्यादा घण्टों के लिए जेल में बन्द रखो, जिससे वे हमारी निगाहों के सामने से और किसी मुसीबत से दूर रहें – और जेल के इन घण्टों के दौरान तुम हमारे बच्चों को पढ़ाओ।" दोनों माँगें परस्पर विरोधी हैं और एक-दूसरे को रद्द करती हैं। स्कूल या तो जेल के धन्धे में हो सकते हैं या फिर पढ़ाई के, दोनों में नहीं। स्कूल इनमें से एक धन्धे

में जितना ज़्यादा होंगे, दूसरे में अपने आप ही उतना कम होंगे।

जेल का धन्धा बन्द करने से स्कूलों का बहुत फायदा होगा। इसके कई कारण हैं। पहला कारण तो सीधा पैसों को लेकर है। मेरीलैण्ड में बैल्टीमोर के स्कूलों के सहायक सुपरिन्टेंडेंट के अनुसार उन्हें हर वर्ष करोड़ों डॉलर उपद्रवियों द्वारा तोड़े काँच के शीशों, फर्नीचर आदि की मरम्मत पर खर्च करने पड़ते हैं। कौन तोड़ता है उन खिड़कियों को? यह सारा नुकसान कौन करता है? ऐसे बच्चे जो स्कूल में नहीं पढ़ना चाहते, और इसलिए जो अपने स्कूल से नफरत करते हैं। तोड़-फोड़ की क्रियाओं द्वारा बच्चे अपना बदला लेते हैं। अगर इस घृणा के मूल कारण को हटा दिया जाए तो फिर बदला लेने की आवश्यकता और यह तोड़-फोड़ अपने आप खत्म हो जाएगी। नवयुवक आम तौर पर बैंकों, होटलों और दवा की दुकानों पर पथराव नहीं करते। वे स्कूलों से घृणा करते हैं और इसीलिए वे स्कूलों को ही नष्ट करने की चेष्टा करते हैं। एक बार मैंने एक महानगर के एक बहुत बुद्धिमान नवयुवक को बड़ी गम्भीरता से यह कहते हुए सुना कि उसके इलाके के सभी स्कूलों को जला दिया जाना चाहिए।

उन बच्चों पर जो वहाँ नहीं पढ़ना चाहते स्कूलों को कितना समय, साधन और धन खर्च करना पड़ता है इसका अनुमान लगाना बेहद कठिन होगा। अनगिनत विशेष स्कूल, विशेष कक्षाएँ, विशेष लोग, विशेष नियम-कानून, विशेष सलाह कार्यक्रम आदि, सभी के होने का केवल एक ही कारण है, ऐसे बच्चे जो स्कूलों से घृणा करते हैं और वहाँ नहीं जाना चाहते। शिक्षकों को इन शैतान कैदियों को नियंत्रण में रखने के लिए कितना समय और ऊर्जा खर्च करनी पड़ती है शायद इसका अनुमान भी लगाना मुश्किल हो।

जेल का यह धन्धा एक और मायने में भी बहुत महँगा है। क्योंकि हमारे बच्चों को रोज़ कुछ घण्टों के लिए जेल में रखने का काम स्कूलों को सौंपा गया है, इसलिए उन्हें यह सुनिश्चित करना पड़ता है कि कैदी जेल में रहें। और अगर वे जेल में नहीं हैं तो क्यों नहीं हैं और कहाँ गए हैं इसका पता रखना पड़ता है। इस काम को करने में शिक्षक और स्कूल प्रबन्धक न जाने कितना कागज़ व्यर्थ करते हैं। हाज़िरी के जितने भी मोटे-मोटे रजिस्टर और रिकार्ड होते हैं सभी का मात्र एक उद्देश्य होता है — यह सिद्ध करना कि सभी कैदी जेल में मौजूद थे और अगर नहीं थे तो उसका कोई कानूनी कारण था। अगर अनिवार्य उपस्थिति के नियमों को हटा दिया जाए तो इस सब की ज़रूरत नहीं पड़ेगी।

मुझे बॉस्टन पब्लिक लाइब्रेरी में अलग-अलग पृष्ठभूमियों के बहुत से छात्र मिलते हैं। वे बाकी सभी लोगों की तरह काफी कायदे और समझदारी से मिलते-जुलते हैं। कभी भी किसी ने उनके व्यवहार को समस्यामूलक नहीं बताया है। क्यों नहीं? पहले, क्योंकि अगर आप किसी ऐसी जगह पर होते हैं जहाँ आप होना चाहते हैं तो आप कायदे से व्यवहार करते हैं। दूसरे, छात्रों को यह भी पता होता है कि अगर वे वहाँ शोर मचाएँगे तो उन्हें दुबारा पुस्तकालय में घुसने नहीं दिया जाएगा। अब और कुछ कहने की ज़रूरत ही नहीं बचती। क्लास-मॉनीटरों, जासूसों, गलियारों पर नज़र रखने वालों, और सशस्त्र पुलिस का जो पहरा स्कूलों में पाया जाता है वह तो शहर के सबसे खूँखार इलाके के पुस्तकालय में भी नहीं मिलेगा। वहाँ उसकी कोई आवश्यकता भी नहीं होगी। अगर स्कूल ऐसी संस्था बने जिसका उपयोग लोग अपनी ज़रूरत के अनुसार कर सकें तो वहाँ पर इस प्रकार की पुलिस की कोई ज़रूरत नहीं होगी।

परन्तु जेल के इस धन्धे से सबसे अधिक हानि कक्षा के अन्दर होती है। उससे शिक्षक और छात्रों के बीच के सम्बन्ध एकदम भ्रष्ट हो जाते हैं। शिक्षक काम करवाने वाला, काम देनेवाला और पुलिसवाला बन जाता है। हो सकता है कि शिक्षक को पाठ पसन्द हो और वह उसे बच्चों तक पहुँचाना चाहता हो। परन्तु उसके बाद भी वह मूल रूप से अलग-अलग तरीके अपनाकर बच्चों को भयभीत और मजबूर करता है। इससे कक्षा एक लड़ाई के मैदान में बदल जाती है। नई शैक्षिक तकनीकें और उपकरण इसके मूल स्वरूप को नहीं बदल पाएँगे। इसके नतीजे साफ नज़र आते हैं। जो लोग बड़ी उम्मीदें लगाकर और अच्छे इरादे लेकर पढ़ाने के क्षेत्र में आते हैं वे धीरे-धीरे अपने आपको एक पुलिसवाला समझने लगते हैं और बच्चों को अपना जानी दुश्मन। समय के साथ वे बच्चों की मदद करने और पढ़ाने की बात भूल जाते हैं; उनमें से कई तो बच्चों से घृणा और नफरत करने लगते हैं। इसमें उन शिक्षकों की गलती नहीं है, और विशेष प्रकार के प्रशिक्षण और विशेष लोगों के चयन से इसे बदला नहीं जा सकता है। अब छात्रों और शिक्षकों के बीच खुले, दोस्ताना और परस्पर सहयोग के सम्बन्ध बनना उतना ही मुश्किल है जितना कैदियों और पुलिसवालों के बीच। दोनों के कारण भी एक-समान हैं। दूसरी ओर, अगर अनिवार्य उपस्थिति को समाप्त कर दिया जाए तो ये रिश्ते एकदम बदल जाएँगे। क्योंकि तब शिक्षक जेलर नहीं होगा, इसलिए वह बच्चों का दुश्मन भी नहीं होगा।

मैंने यह सिद्ध करने के लिए कई कारण दिए हैं कि अनिवार्य उपस्थिति स्कूलों के हक में नहीं है। परन्तु मैं उसका विरोध मुख्यतः इसलिए करता हूँ क्योंकि वह बच्चों के लिए अनुचित और हानिकारक है। मुझे बहुत से "अच्छे" स्कूलों के पालकों से चर्चा का मौका मिला है। मुझे ऐसी अनेक कहानियाँ सुनने को मिली हैं कि स्कूलों ने, या कक्षा के शिक्षकों ने, बच्चों को चोट और हानि पहुँचाई है और कुछ को अपंग बना दिया है। इस सबसे मुझे लगने लगा है कि अनिवार्य उपस्थिति के कानून बच्चों और उनके पालकों के मौलिक अधिकारों का हनन करते हैं। मैं मानता हूँ कि उन्हें संवैधानिक आधारों पर चुनौती दी जानी चाहिए, ताकि उन्हें बदला जा सके।

मुझे पता है कि समय-समय पर पालकों ने अनिवार्य उपस्थिति के कानूनों को चुनौती दी है, परन्तु उन्हें इसमें असफलता ही मिली है। पर उन चुनौतियों का आधार कुछ अलग था – उनमें पालकों द्वारा घर में बच्चों को पढ़ाने की सम्भावनाएँ सुझाई गई थीं परन्तु स्कूल द्वारा की गई हानि पर इतना ज़ोर नहीं था। सम्भ्रान्त लोगों के इस तर्क को स्कूलों ने एक काफी तर्कसंगत जवाब दिया था। उनके अनुसार स्कूल कुछ खास तरह के संसाधन उपलब्ध कराते हैं, जिनमें एक यह भी है कि वहाँ आकर बच्चे अपनी उम्र के बहुत से अन्य बच्चों से मिल सकते हैं। यह मौका उन्हें घर में रहकर नहीं मिलेगा। इसीलिए अभी तक न्यायालयों ने स्कूलों के तर्क को ही बेहतर माना है। परन्तु मेरी चुनौती इससे अलग है। मेरी राय में अगर स्कूल बच्चों की मदद करने की स्थिति में हों तभी वे बच्चों की अनिवार्य उपस्थिति की माँग कर सकते हैं। और स्कूल वाकई बच्चों की मदद कर रहे हैं इसे प्रत्यक्ष दिखाना स्कूलों का ही काम है। पर जहाँ वे ऐसा प्रमाण नहीं दे पाते, या जहाँ किसी भी वजह से स्कूलों का बच्चों पर गलत असर पड़ रहा है, वहाँ स्कूलों द्वारा बच्चों की अनिवार्य उपस्थिति की माँग नाजायज़ है। संक्षेप में, हम यह कह सकते हैं कि स्कूल कोई फौज नहीं हैं, हालाँकि स्कूल फौज की तरह ही बात करते हैं और उसी की तरह व्यवहार भी करते हैं। ऐतिहासिक और कानूनी तौर पर स्कूलों का औचित्य यह कहकर दिखाया गया है कि वे बच्चों के लिए अच्छे हैं और हरेक बच्चे के लिए सहायक हैं। छह बरस के बच्चों को ज़बरदस्ती फौज में भेजने का निर्णय हमने अभी नहीं लिया है।

यह कहना उचित होगा कि जब अनिवार्य उपस्थिति के नियम-कानून बने थे तब वे मानव अधिकारों के विरोधी नहीं, उनके हक में माने गए थे, और

यह ठीक ही था। वे कानून बच्चों के हक में भी थे। वे शिक्षा प्रदान करवाने और आर्थिक शोषण करने वाले वयस्कों से उन्हें बचाने के लिए बने थे। अमरीका में बहुत से किसान, छोटे दुकानदार और कारीगर, जिन्हें खुद औपचारिक शिक्षा का मौका नहीं मिला था, अपने बच्चों से भी खदानों, कारखानों और खेतों में काम करवाना पसन्द करते थे। ये कानून इस प्रकार के शोषण को रोकने के लिए बने थे। परन्तु समय और तरीके बदल गए हैं और जिन परिस्थितियों को ठीक करने के लिए वे नियम बने थे वे अब मौजूद नहीं हैं। अब छोटे बच्चों के श्रम के लिए कोई बड़ा बाज़ार ही नहीं है और आज आर्थिक कारणों से बहुत कम पालक ही अपने बच्चों को स्कूल की बजाय घर पर रखना चाहेंगे। सच्चाई यह है कि आज स्कूल ही बच्चों को नष्ट कर रहे हैं और उनके सबसे बड़े शोषक हैं।

इसमें कानून क्या कर सकता है? कानून को स्पष्ट रूप से एक बात कहनी चाहिए। अगर बच्चों और उनके पालकों की राय में स्कूल फायदा न पहुँचाकर उलटा बच्चों का नुकसान कर रहे हैं तो बच्चों को जब वे चाहें स्कूल जाने या न जाने की स्वतंत्रता होनी चाहिए। पालकों को इसके लिए कोई सबूत देने की ज़रूरत नहीं होनी चाहिए कि वे बच्चों को पढ़ाई की सुविधाएँ, अन्य बच्चों का साथ या वे सारी अन्य चीज़ें जो स्कूल उपलब्ध कराता है उपलब्ध करा पा रहे हैं या नहीं। अगर बिली स्मिथ स्कूल से नफरत करता है और उसके पालकों को उसका यह मानना सही लगता है तो अदालतों से उन्हें इसके लिए राहत मिलनी चाहिए। स्कूल की खराब शिक्षा की तुलना में वे बच्चे को अच्छी शिक्षा दे सकते हैं इसका सबूत पेश करने की कोई आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। न्याय का यह एक बुनियादी सिद्धान्त है कि अगर हमें किसी चीज़ के गलत होने का पता हो तो उसको रोकने की आज्ञा मिलने से पहले हमें उसका विकल्प सुझाने के लिए मजबूर नहीं किया जाएगा।

मैं ऐसे बहुत से बच्चों को जानता हूँ जो स्कूल से घृणा करते हैं और उन्हें असहनीय मानते हैं। परन्तु अगर स्कूल में उपस्थिति अनिवार्य न हो तो हो सकता है कि यही बच्चे स्कूल को थोड़ा अधिक सहनीय और रोचक समझने लगें। जो बच्चे स्कूलों से बहुत अधिक घृणा करते हैं वे भी कभी-कभी वहाँ जाना चाहते हैं। इसका कारण यह है कि स्कूलों में बच्चों के मित्र होते हैं और वहाँ और भी बहुत कुछ होता है। जो बच्चे पाँच दिनों तक स्कूल को नहीं सह पाते, वे शायद दो-तीन दिनों के लिए वहाँ पर जाना

चाहें और इस अल्पकाल में ही पाँच दिनों की तुलना में बेहतर शिक्षा और सन्तोष पाएँ।

जो लोग स्कूलों के बारे में कुछ जानते हैं – और इनमें सभी छात्र शामिल हैं – वे इस बात को पहचानते हैं कि बच्चे अपनी बुद्धि और ऊर्जा का उपयोग कर स्कूल का पाँच दिन लम्बा पाठ्यक्रम दो दिनों में ही पूरा कर सकते हैं। अगर कानून बच्चों को स्कूल जाने या न जाने की स्वतंत्रता देता है तो वे स्कूल से बचे समय में ऐसे बहुत से रोचक और गम्भीर कार्य कर सकते हैं जिनके लिए अभी उन्हें समय नहीं मिलता है। यह बात गौरतलब है कि रूमानिया की ग्यारह वर्षीय लड़की जो 1967 के ग्रेनोबल ओलम्पिक्स की स्केटिंग प्रतिस्पर्धा में सब की चहेती थी, उसने अपनी सम्पूर्ण शिक्षा घर पर ही प्राप्त की थी। यह बात रोचक और उदास करने वाली है कि एक साम्यवादी देश कम-से-कम अपने एक बच्चे को सीखने की वो स्वतंत्रता देता है जो अमरीका जैसा स्वतंत्र देश अपने बच्चों को नहीं देता।

मेरे प्रस्ताव से कई मुश्किल प्रश्न खड़े होते हैं जिनका उत्तर मेरे पास नहीं है। ऐसी स्थिति में क्या होगा जब बच्चों और पालकों में स्कूल द्वारा की जा रही हानि या फायदे को लेकर ही मतभेद हों? मेरी राय में अगर बच्चा स्कूल जाना चाहता है और उसके पालक मना करते हैं तो बच्चे की ही बात मानी जानी चाहिए। पर अगर स्थिति इससे बिल्कुल उलट हो तो प्रश्न और कठिन हो जाएगा। परन्तु मैं बच्चे की मंशा को ही प्राथमिकता दूँगा। यह उस प्रचलित और आम तौर पर युक्तिसंगत धारणा के खिलाफ है जिसके अनुसार माता-पिता को ही बच्चे की ज़िन्दगी का निर्देशक माना जाता है। इस मसले पर मैं एडगर फ्राइडिनबर्ग से सहमत हूँ कि बच्चों के कुछ ऐसे अधिकार होने चाहिए जिन्हें कोई और छीन न सके। उनके पास ऐसे अधिकार न होना उनके साथ अन्याय है और यह एक गम्भीर गलती है। जो अधिकार उनके पास है वह शायद एक ही है : ज़िन्दा रहने का अधिकार। (मैंने यहाँ "शायद" शब्द का इस्तेमाल इसलिए किया क्योंकि मैंने पढ़ा है कि देश के कुछ राज्यों में बच्चे को मारते-पीटते समय स्कूल उसकी जान भी ले सकते हैं, और उन्हें कोई कानूनी सज़ा नहीं होगी।)

इस समय शायद कोई भी राज्य अपने कानूनों में स्कूल हाज़िरी में सुधार लाने के लिए तैयार नहीं होगा। मुझे लगता है कि अधिकांश पालकों को स्कूल की भूमिका पसन्द आती है : स्कूल बच्चों को सँभालते हैं और एक

जेल का काम करते हैं। इसलिए अनिवार्य उपस्थिति के नियमों को बदलने की कोशिश का ज़बरदस्त विरोध होगा। इन कानूनों को मुक्ति के संवैधानिक आधारों पर न्यायालयों में चुनौती दी जानी चाहिए।

मेरा यह कहना नहीं है कि जब तक न्यायालय इन कानूनों को बदल नहीं देंगे तब तक कुछ हो ही नहीं सकता। इसके लिए एक ही उदाहरण पर्याप्त होगाः एक प्रसिद्ध प्राथमिक स्कूल में जाने वाली नौ बरस की एक बच्ची एक दिन रोती हुई घर वापस आई। पहले दिन से ही वह बच्ची अपने स्कूल में एक "मॉडल" छात्रा थी। उस दिन उसकी कक्षा में नियमित शिक्षिका की बजाय कोई अन्य शिक्षिका आई। बच्ची ने दिया हुआ काम खत्म किया और फिर खाली समय में कागज़ पर एक खरगोश का चित्र बनाने लगी। शिक्षिका चुपके से बच्ची के पीछे जाकर खड़ी हुई। उसने चित्र को देखा और बिना किसी चेतावनी के बच्ची के हाथ से कागज़ और पेंसिल को खींच लिया। उसने कागज़ को मरोड़ा और पेंसिल के साथ दीवार के पास फेंक दिया। फिर शिक्षिका ने ऊँची आवाज में कहा, "अगर मैंने तुम्हें दुबारा कक्षा में चित्र बनाते हुए पकड़ा तो फिर मैं तुमसे हाथ दर्द करने तक यह लिखने को कहूँगी – 'मैं कक्षा में कभी चित्र नहीं बनाऊँगी।'" स्कूल के बाद जब बच्ची की माँ को इस घटना के बारे में पता चला तो वे बहुत गुस्सा हुईं। उन्होंने प्रधानाचार्य को फोन पर सारी बात बताई और कहा कि अगर प्रधानाचार्य के लिए उस शिक्षिका को हटाना मुश्किल हो, तो जब तक वह शिक्षिका कक्षा में रहेगी तब तक वे अपनी बच्ची को स्कूल नहीं भेजेंगी। प्रधानाचार्य ने बच्ची की गैरहाज़िरी पर कोई ध्यान नहीं दिया, जो मेरी नज़र में एक समझदारी का निर्णय था। दूसरे शब्दों में, इससे पहले कि न्यायालय स्कूल में उपस्थिति के नियमों को भंग करें या उन्हें बदल दें, उनका विरोध करने से शायद कुछ लाभ अवश्य होगा।

– 1968

बच्चों में पढ़ने के प्रति नफरत पैदा करना

जब मैं कॉलोरैडो रॉकी माउन्टेन स्कूल में अँग्रेज़ी पढ़ाता था तो मैं छात्रों से उनके होमवर्क के बारे में वही प्रश्न पूछता था जो सामान्यतः अँग्रेज़ी पढ़ाने वाले शिक्षक पूछते हैं – ऐसे प्रश्न जिनसे छात्र मेरे द्वारा चुनी गई चीज़ों को समझें। छात्र इशारों से मुझसे संकेत निकलवाने का प्रयास करते। हम एक प्रकार का खेल खेलते। किसी पुस्तक के बारे में छात्रों के विचारों को मैं कभी जानने की कोशिश नहीं करता।

मैं छात्रों से शब्दों की कवायद कराता और उन्हें पहेलियाँ बूझने को कहता। मैं उनसे कहता कि जब कभी उन्हें कोई नया शब्द नज़र आए तो उन्हें तुरन्त शब्दकोश में उसका अर्थ देखना चाहिए। मैंने उनके लिए शब्दों के कुछ परीक्षण बनाए थे जिनमें वे शब्दों के उपयोग को समझने के लिए अपनी पुस्तकों की सहायता ले सकते थे। परन्तु अब जब मैं पीछे मुड़कर देखता हूँ तो मुझे अपने द्वारा बनाए परीक्षणों और तरीकों की बेवकूफी का पता चलता है।

मुझे अँग्रेज़ी पढ़ाने के पारम्परिक तरीकों की सीमाओं के बारे में सबसे पहले मेरी बहन ने सोचने के लिए बाध्य किया। उनका बेटा सातवीं कक्षा में था और एक अच्छे पब्लिक स्कूल में पढ़ता था। शिक्षक ने उससे कूपर की पुस्तक *द डियरस्लेयर* पढ़ने को कहा। पुस्तक का चयन ही गलत था क्योंकि उसमें प्रकृति और मनुष्य दोनों का वर्णन काफी सतही, अशुद्ध और भावनात्मक था। वैसे भी कूपर की शैली और भाषा काफी कठिन है। सबसे खराब बात यह थी कि शिक्षक बच्चों से इस पुस्तक का अतिसूक्ष्म अध्ययन करवा रहा था। शिक्षक बच्चों से परिभाषाएँ रटवा रहा था और प्रत्येक कठिन शब्द का उद्‌गम खोजने को कह रहा था। और इस तरह के बहुत सारे शब्द थे। हरेक अध्याय के बाद प्रश्न पूछे जाते थे जिससे यह सुनिश्चित हो सके कि बच्चों को पाठ "समझ" में आ गया है।

उस समय परम्परावादी होने के नाते मैं अपनी बहन की टिप्पणियों के विरोध में अपने शिक्षक मित्र का ही पक्ष ले रहा था। धीरे-धीरे यह विवाद गरमाया। बच्चे जो भी पढ़ें वे उसे समझें, यह सुनिश्चित करना क्या गलत था? मेरी बहन ने बताया कि इस कक्षा से पहले उनके बेटे को पुस्तकें पढ़ने से अथाह प्रेम था और वह खुद बहुत कुछ पढ़ता था। परन्तु अब उसने पढ़ना ही बन्द कर दिया था। (और इसके कई वर्षों बाद तक भी उसने दुबारा पढ़ना शुरू नहीं किया।)

मैं फिर भी अपनी बात पर अड़ा रहा। अगर बच्चों को शब्दों के अर्थ ही नहीं पता होंगे तो वे पढ़ते समय उनको कैसे समझेंगे? मेरी बहन ने कहा, "बेवकूफों जैसी बातें मत करो! जब तुम छोटे थे तब तुम्हारी शब्दावली काफी वृहत थी और तुम हमेशा वयस्कों की पुस्तकें ही पढ़ते थे। तुमने बचपन में क्या कभी शब्दकोश उठाकर देखा था?"

उन्होंने सही ही कहा। मैंने कभी शब्दकोश नहीं देखा था। आज भी मुझे उसकी ज़रूरत नहीं पड़ती। अपने पूरे जीवन में मैंने शब्दकोश में पचास से अधिक शब्दों के मायने नहीं देखे होंगे, शायद उससे भी कम।

उसके बाद से मैंने इस विषय पर बहुत से शिक्षकों के साथ चर्चा की है। इस बात को मैंने कई बार दोहराया है, "परीक्षणों के अनुसार आप जैसे पढ़े-लिखे साक्षर लोग लगभग पच्चीस हज़ार शब्द जानते हैं। उनमें से आपने कितनों को शब्दकोश में खोजा है?" शिक्षक इसे सुनकर चौंक जाते हैं। कुछ ने शायद एक हज़ार या उससे कम शब्दों को शब्दकोश में खोजा होगा। उन्होंने बाकी शब्द कैसे सीखे?

जैसे उन्होंने बोलना सीखा, उसी प्रकार उन्होंने उन शब्दों को सीखा – वे शब्दों को अलग-अलग सन्दर्भों में बार-बार देखते और अन्त में पूरे सन्दर्भ में उनके अर्थ को समझ जाते।

अँग्रेज़ी के शिक्षक समझ पर इतना बल देते हैं यह एक दुर्भाग्य की बात है। बच्चे जो कुछ भी पढ़ें वो सब उन्हें समझ में आए ही, यह क्यों ज़रूरी है? यह किसी के भी लिए क्यों ज़रूरी है? क्या कभी किसी के साथ ऐसा हुआ है? मेरे साथ न तो कभी ऐसा हुआ, और न ही मैंने कभी ऐसा किया। मैंने हमेशा ऐसी पुस्तकें पढ़ीं जिन्हें शिक्षक "कठिन" करार देते। इन पुस्तकों में बहुत से ऐसे शब्द थे जिन्हें मैं नहीं जानता था। इसीलिए मैं एक अच्छा पाठक बना। दस साल की उम्र में ही मैं डी'आर्टगनन की कहानियाँ पढ़ने और उनका आनन्द लेने लगा था। उस समय तक मुझे यह नहीं पता था कि फ्रांस और इंग्लैण्ड के बीच युद्ध क्यों हुआ, या फ्रांसीसी न्यायालयों में कौन किससे लड़ रहा था, या फिर मस्केटियर क्यों कार्डिनल रिचलू के लोगों से झगड़ते रहते थे। परन्तु ये बातें न मालूम होने से मुझे कोई दिक्कत नहीं हुई। मुझे यह भी नहीं पता था कि कार्डिनल कौन था। मैं सिर्फ इतना जानता था कि वह एक खतरनाक और शक्तिशाली आदमी था और मेरे मित्रों को उससे डर लगता था। बस, इतना भर जानना ही मेरे लिए काफी था।

इतना सब कहने के बाद मैं सोचता हूँ कि घर या कक्षा में एक बड़ा, विस्तृत शब्दकोश होना एक अच्छी बात है। अगर कोई आपको बाध्य न करे तो किसी अन्य किताब के पन्ने पलटने में आपको इतना मज़ा नहीं आएगा। बच्चों को, उनकी आयु के अनुसार, बड़े शब्दकोश में बहुत-सी रोचक और अच्छी बातें मिलेंगी। वे उसमें मज़ेदार उच्चारण वाले शब्द खोज सकते हैं। या वे उन शब्दों को ढूँढ सकते हैं जिन्हें कक्षा में किसी ने कभी सुना ही न हो और जो उन्हें पसन्द हों। या वे अपनी पसन्द के लम्बे या फिर निषेध शब्दों को खोज सकते हैं जिसमें उन्हें सबसे ज़्यादा मज़ा आएगा। एक विशेष उम्र में और शिक्षकों एवं पालकों की थोड़ी-सी सहायता से बच्चे शब्दों के उद्गम, और समय के साथ उनके बदलते अर्थ के बारे में जान सकते हैं। शब्दों को अपने मज़े के लिए खोजना एक बात है। परन्तु अगर आपको पढ़ते समय बार-बार शब्दकोश उठाना पड़े, क्योंकि ऐसा नहीं करने से आपको शिक्षक परेशान करेगा, तो वह एक बिल्कुल अलग बात होगी।

अपनी बहन के साथ हुए विवाद के दो साल बाद पाँचवीं कक्षा को पढ़ाते समय मैं पढ़ने के बारे में गम्भीरता से सोचने लगा। मेरी कक्षा के बच्चों को एक कार्ड पर उनके द्वारा पढ़ी प्रत्येक पुस्तक व लेखक का नाम और उसके सार को सिर्फ एक वाक्य में लिखना होता था। मुझे किसी प्रतिस्पर्धा का आयोजन नहीं करना था, यह देखने के लिए कि सबसे ज़्यादा किताबें कौन पढ़ रहा था। इस प्रकार की प्रतिस्पर्धाओं से बच्चों को सिर्फ धोखा देने की शिक्षा मिलती है। बच्चे क्या पढ़ रहे हैं, मैं सिर्फ यह पता करना चाहता था। कुछ समय पश्चात यह स्पष्ट हो गया कि बहुत बुद्धिमान बच्चे भी, जो पढ़े-लिखे और साहित्यिक परिवारों से आए थे, बहुत कम पुस्तकें पढ़ते थे और पढ़ने से उन्हें गहरी घृणा थी। इसका क्या कारण हो सकता था?

इस समय की अपनी सोच को मैंने *हाऊ चिल्ड्रन फेल* नाम की पुस्तक में लिखा है। उन दिनों मुझे यह महसूस होने लगा था कि अधिकांश बच्चों के लिए स्कूल एक खतरनाक जगह होती है और स्कूल में बच्चे इस खतरे से बचने का यथा सम्भव प्रयास करते हैं। अब मुझे साफ दिखाई देने लगा कि स्कूल में पुस्तकें भी एक बहुत खतरनाक चीज़ होती हैं।

हम स्कूल में शुरू से ही पुस्तकों और उनके पढ़ने को फेल करने और नीचा दिखाने का एक माध्यम बना देते हैं। जब बच्चे छोटे होते हैं तब हम उनसे शिक्षक और बाकी बच्चों के सामने ज़ोर-ज़ोर से पढ़ने को कहते हैं ताकि हमें पता चल सके कि वे सभी शब्दों को समझ रहे हैं या नहीं। इसका मतलब होता है कि बच्चों को कोई शब्द न मालूम होने पर वे पूरी कक्षा के समक्ष गलती करेंगे। उन्हें अपनी गलती का तत्काल पता चल जाएगा। गलती करने पर शायद कुछ अन्य बच्चे अपने हाथ हिलाकर "ओह, ओह" की आवाज़ें निकालने लगें। हो सकता है कुछ हँसें, एक-दूसरे को कोहनी मारें या फिर अपना मुँह बनाएँ। शायद शिक्षक पूछे, "क्या तुम्हें अच्छी तरह पता है?" या फिर वह किसी और से उसके बारे में पूछे। और अगर शिक्षक कुछ दयालु हुआ तो शायद उसके चेहरे पर एक मीठी, उदास मुस्कान प्रकट हो – जो किसी संवेदनशील बच्चे के लिए एक कठोर सज़ा साबित हो सकती है। जो भी हो, इतना अवश्य होगा कि जिस बच्चे ने गलती की है उसे अपनी गलती का पता चल जाएगा, जिससे वह अपने आपको मूर्ख, बेवकूफ और अपमानित महसूस करेगा। अगर हम उसकी जगह होते तो हम भी वैसा ही महसूस करते।

इससे बहुत से बच्चे जल्द ही पुस्तक पढ़ने का सम्बन्ध गलतियों, सज़ा और अपमान से जोड़ने लगते हैं। यह शायद हमें अच्छा न लगे पर असल में ऐसा ही होता है। मार्क ट्वेन ने एक बार कहा था कि गर्म तवे पर एक बार बैठने के बाद बिल्ली दुबारा कभी ठण्डे तवे पर भी पाँव नहीं रखेगी। यह बात जितनी बिल्लियों के लिए सही है उतनी ही बच्चों के लिए भी है। अगर बच्चे "गर्म" पुस्तकों पर कुछ बार बैठते हैं, और अगर पुस्तकों के कारण उन्हें अपमानित होना और दुख झेलना पड़ता है, तो वे पुस्तकों को दूर से ही सलाम करने का निश्चय कर लेंगे।

पाँचवीं कक्षा के बच्चों को चार साल पढ़ाने के बाद इस सिद्धान्त की सच्चाई में मेरी आस्था बढ़ गई। मेरी नई कक्षा में ऐसे बहुत से बच्चे थे जो स्कूल के काम और पढ़ने में बहुत परेशानी महसूस करते आ रहे थे। मैंने जी-जान लगाकर पुस्तकों के प्रति उनके भय और घृणा को दूर करने और उन्हें अधिक पढ़ने के प्रति प्रेरित करने की कोशिश की।

एक दिन स्कूल शुरू होने के तुरन्त बाद मैंने उनसे कहा, "आज मैं पढ़ने के बारे में तुमसे एक ऐसी बात करूँगा जो आज तक तुमने शायद किसी भी शिक्षक के मुँह से नहीं सुनी होगी। मैं चाहूँगा कि इस वर्ष तुम अधिक से अधिक पुस्तकें पढ़ो, पर तुम उन्हें केवल अपने आनन्द के लिए ही पढ़ो। तुम्हें पुस्तकें समझ में आईं या नहीं, इसके बारे में तुमसे कोई प्रश्न नहीं पूछेगा। तुम्हें पुस्तक समझ में आए और तुम उसे अपने मज़े के लिए पढ़ना चाहो, बस यही मैं चाहता हूँ। मैं तुमसे किसी शब्द का अर्थ भी नहीं पूछूँगा।"

"अन्त में," मैंने उनसे कहा, "मैं यह नहीं चाहता कि तुम्हें ऐसा लगे कि क्योंकि तुमने किसी पुस्तक को शुरू किया है तो इसका मतलब यह है कि तुम्हें उसे खत्म ही करना है। तुम पुस्तक के पहले तीस-चालीस पन्ने पढ़कर उसका जायज़ा लो। उसके बाद अगर तुम्हें पुस्तक के पात्र या पुस्तक पसन्द न आए तो उसे बन्द करके रख दो और दूसरी पुस्तक उठाकर पढ़ो। जब तक तुम्हें पुस्तक में मज़ा आए तब तक। मुझे उसके कठिन या सरल, लम्बी या छोटी होने से कुछ फर्क नहीं पड़ता। मैं इस सबके बारे में तुम्हारे माता-पिता को भी एक पत्र लिख रहा हूँ ताकि वे तुमसे पुस्तकों के बारे में बेकार के सवाल-जवाब न करें।"

बच्चे स्तब्ध और शान्त बैठे रहे। भला कभी कोई शिक्षक ऐसी बात करेगा? एक लड़की हमारे पास हाल ही में एक दूसरे स्कूल से आई थी।

वहाँ उस बच्ची को बहुत परेशानियाँ उठानी पड़ीं थीं। वह एक बेहद रोचक, ज़िन्दादिल और बुद्धिमान लड़की थी। वह बहुत देर तक मुझे टकटकी लगाए देखती रही और फिर उसने धीरे से और गम्भीरता से मुझसे पूछा, "मिस्टर होल्ट, क्या आपने जो कहा है उसमें सच्चाई है?" मैंने भी गम्भीरता से उत्तर दिया, "मेरा हरेक शब्द सच है।"

ज़ाहिरा तौर पर उस लड़की ने मेरी बात पर विश्वास करने का निर्णय लिया। उसने सबसे पहले डॉक्टर सीऊस्स की *हाऊ द ग्रिंच स्टोल क्रिस्मस* नामक पुस्तक पढ़ी। यह पुस्तक तीसरी के बच्चों के लिए भी कठिन नहीं है। कुछ समय तक वह इसी स्तर की अन्य पुस्तकें पढ़ती रही। इस दौरान शायद वह अपनी कुछ उन उलझनों से मुक्त हो रही थी जिन्हें उसके पूर्व शिक्षकों ने पैदा किया था। उसे "ऊँची कक्षा" के स्तर तक लाने के लिए इन शिक्षकों ने उसे अपनी कठिनाइयों को सुलझाने का समय ही नहीं दिया था। मेरी कक्षा में छह हफ्ते बिताने के बाद उसके साथ मेरी अच्छी दोस्ती हो गई। क्योंकि उसकी पढ़ने और घोड़ों दोनों में गहरी रुचि थी इसलिए मैंने उसे *नेशनल वेल्वेट* नाम की पुस्तक पढ़ने का सुझाव दिया। मैंने यह सुझाव बहुत झिझक और सावधानी से दिया। मैंने पुस्तक की संक्षिप्त कहानी उसे बताई। कहानी एक छोटी लड़की के बारे में थी जिसे घोड़ों से प्यार था और उन पर सवारी करना पसन्द था। मैंने उस लड़की से यह भी कहा कि अगर उसे कहानी पसन्द न आए तो वह बेशक किताब को न पढ़े। उसने कोशिश की। किताब उसके पढ़ने के स्तर से काफी कठिन थी, फिर भी उसने उसको पूरा पढ़ा और उसमें उसे बहुत मज़ा आया।

वसन्त के दौरान उसने मुझे एकदम आश्चर्य में डाल दिया। एक दिन छुट्टी के पीरियड में वह अपनी डेस्क पर बैठकर पढ़ रही थी। उस किताब में चित्रों की एक झलक देखकर मुझे उस पुस्तक के बारे में कुछ अन्दाज़ा लगा। "ऐसा नहीं हो सकता," मैंने खुद से कहा और फिर पास जाकर मैंने किताब को करीब से देखा। मेरा अन्दाज़ा सही थी। वह *मोबी डिक* का वह संस्करण पढ़ रही थी जिसमें रौकवेल केन्ट ने विशेष वुडकटों द्वारा चित्र बनाए थे। जब मैं उस लड़की की डेस्क के पास आया तो उसने सिर उठाकर मेरी ओर देखा। मैंने पूछा, "क्या तुम वाकई इस किताब को पढ़ रही हो?" उसने "हाँ " में उत्तर दिया। "क्या तुम्हें किताब पसन्द आई?" "हाँ, बड़ी रोचक है!" उसने जवाब दिया। मैंने पूछा, "क्या तुम्हें किताब के कुछ अंश कठिन नहीं लगते?" उसने उत्तर दिया, "हाँ, मैं उन अंशों को छोड़कर आगे के अच्छे हिस्से पर चली जाती हूँ।"

इसी प्रकार पढ़ना चाहिए – आनन्द, खुशी और रोमांच के लिए। पर दुर्भाग्य से स्कूलों में ऐसा नहीं होता है। पढ़ने के लिए कुछ ढूँढो, उसमें डूबो, अच्छे अंशों को पढ़ो, खराब हिस्सों को छोड़ दो, और पुस्तक से जितना सम्भव है हासिल करो; और फिर दूसरी किताब ले आओ। परन्तु स्कूलों की मान्यता इससे कितनी उलट है। हम उनकी पुस्तक को निचोड़-निचोड़ कर उसकी समझ का अर्क बच्चों को पिलाना चाहते हैं।

जिन शिक्षकों को इसमें मज़ा आता है और जो इसे बड़े चाव से करते हैं उनके लिए पुस्तकों को ज़ोर से पढ़ना एक अच्छी बात है। मेरी समझ में आया है कि पाँचवीं के बच्चों को ही नहीं, इसमें नौवीं और ग्यारहवीं के बच्चों को भी बड़ा मज़ा आता है। जैक लण्डन की लिखी *टू बिल्ड ए फायर* बोलकर पढ़ने के लिए एक बहुत अच्छी कहानी है। इसी तरह भूतों-प्रेतों की कहानियाँ भी : डब्लू. एफ. हारवे की "औगस्ट हीट" और साकी (एच.एच. मुनरो) की "द मंकीज़ पौ" शायद सबसे अच्छी हैं। शरली जैकसन की कहानी "द लॉटरी" भी ज़बरदस्त है। इससे बाद में चर्चा के लिए कई तरह के प्रश्न उठेंगे। बच्चों ने क्योंकि विलियम गोल्डिंग की पुस्तक *लॉर्ड ऑफ द फ्लाइज़* को टेलीविज़न पर देखा था और उसमें उन्हें मज़ा आया था, इसलिए मैंने उसके एक-दो अध्याय उनको पढ़ाने का मन बनाया। परन्तु बच्चों ने मुझे पूरी पुस्तक को पढ़ने के लिए मजबूर किया।

पाँचवीं की जिन कक्षाओं को पहले मैं पढ़ाता था उसके बच्चे तीव्र बुद्धि वाले थे, सुशिक्षित परिवारों से सम्बन्ध रखते थे, और ऐसा लगता था कि वे स्कूल में सफल होंगे। परन्तु इनमें से अधिकांश बच्चों को अपनी बात को कहकर या लिखकर अभिव्यक्त करना बहुत मुश्किल लगता था। यह हैरान करने वाली बात थी। मैं पाँच वर्ष के ऐसे कई बच्चों को जानता था जो स्कूलों में पाँचवीं कक्षा के ज़्यादातर बच्चों से भाषा में कहीं अधिक सुस्पष्ट थे। कुछ बोलने के लिए कहने पर ये बच्चे झिझकने, शर्माने लगते और कुछ तो साफ इंकार कर देते। लिखने के लिए कहने पर वे कई मिनटों तक बैठे कागज़ को सिर्फ निहारते रहते थे। उनमें से किसी के लिए भी उनकी रुचि और उनके द्वारा चुने विषयों पर आधा पन्ना भी लिख पाना एक दुश्वार काम था।

एकदम निराश होने के बाद मैंने एक तरकीब खोज निकाली और उसका नाम दिया "निबन्ध दौड़"। मैंने कक्षा को दो टीमों में बाँट दिया और उन्हें समझाया कि मेरे "शुरू" कहते ही वे अपने-अपने कागज़ों पर कुछ भी

लिखना शुरू कर दें। वे अपनी मर्ज़ी से किसी भी चीज़ के बारे में लिखने के लिए स्वतंत्र थे परन्तु वह किसी चीज़ के बारे में होना चाहिए : वे बार-बार सिर्फ "कुत्ता, कुत्ता, कुत्ता, कुत्ता" नहीं लिख सकते थे। वे कोई सच्ची कहानी, लोगों या स्थानों का वर्णन, घटनाएँ, इच्छाएँ, सपने – जो जी करे लिख सकते थे। हिज्जे ठीक ही हों, इसकी फिक्र उन्हें नहीं करनी थी। जब मैं "बन्द" कहूँ तो सबको लिखाई तत्काल बन्द करके अपने लिखे हुए निबन्ध के शब्दों को गिनना था। जिस टीम के सदस्य सबसे अधिक शब्द लिख पाएँगे वही टीम "निबन्ध दौड़" में विजयी होगी।

इसमें मुझे काफी सफलता मिली। इसके कई कारण भी थे। पहला आश्चर्य तो यह था कि जिन दो बच्चों ने बार-बार सबसे अधिक शब्द लिखे उनकी कक्षा के सबसे असफल बच्चों में गिनती होती थी। वे तेज़ थे परन्तु स्कूल में उन्हें बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता था। दोनों लिखते समय हिज्जों में ढेरों गलतियाँ करते थे, जिसके डर से उनकी लिखाई धीमी पड़ जाती थी और हिज्जे भी ठीक नहीं होते थे। जब वे इस भय से मुक्त हो गए तो उन्होंने अपने अन्दर छिपी प्रतिभाओं को बाहर निकाला।

उन दोनों में से छोटा लड़का काफी उत्साही था पर बहुत चिन्तित भी रहता था। वह लम्बी-लम्बी रोमांचक कहानियाँ लिखता था जिनमें मैं एक प्रमुख पात्र होता था, जैसेः "जिस दिन मिस्टर होल्ट जेल गए," या "जिस दिन मिस्टर होल्ट गड्ढे में गिरे" या "जिस दिन मिस्टर होल्ट कुचले गए" आदि। ये कहानियाँ बेहद मज़ेदार होती थीं और जब मैं कक्षा में इन्हें ज़ोर से पढ़ता तो सब बच्चों को सुनकर बड़ा मज़ा आता। एक दिन मैंने बच्चों को "निबन्ध दौड़" लिखने के लिए एक विषय सुझाने की बात की। उन्हें यह सुझाव बिल्कुल पसन्द नहीं आया। "पहले ज़रा विषय तो सुन लो," मैंने कहा। विषय है "जिस दिन स्कूल जलकर राख हुआ।"

बच्चे खुशी से चिल्लाने लगे और तत्काल काम पर लग गए। वे बीस मिनटों तक लगातार लिखते रहे और लिखते समय खुशी से हँसते रहे। सभी के निबन्ध लगभग एक जैसे थे। निबन्धों में सभी बच्चे स्कूल की जलती इमारत के सामने नाच रहे थे और पुस्तकों को आग में झोंक रहे थे। वे मुझे और अन्य शिक्षकों को लगातार आग में से बाहर निकलने से रोक रहे थे।

हमारी पहली "निबन्ध दौड़" में बच्चों ने औसतन दस शब्द प्रति मिनट लिखे; पर कुछ महीनों के बाद वे बीस शब्द प्रति मिनट के हिसाब से

लिखने लगे। सबसे धीमे बच्चों में से कुछ के काम में तीन गुना बढ़ोतरी हुई। सबसे धीमा बच्चा भी, जो कक्षा का सबसे तेज़ छात्र था, पन्द्रह शब्द प्रति मिनट की गति से लिखने लगा था। सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी कि सभी बच्चों को "निबन्ध दौड़" में आनन्द आ रहा था और वे रोचक बातें लिख रहे थे।

कुछ समय बाद मैंने पढ़ा कि प्रोफेसर एस. आई. हायाकावा ने नए छात्रों को अँग्रेज़ी पढ़ाने का इससे भी बेहतर तरीका इजाद किया था। हरेक दिन वे अपनी कक्षा में छात्रों से बिना रुके आधे घण्टे तक लिखने को कहते थे। छात्र किसी भी विषय पर लिख सकते थे; ज़रूरी शर्त थी बिना रुके लिखना। अगर कभी वे बीच में रुकते तो उन्हें अपने आखिरी वाक्य की तब तक नकल उतारनी होती थी जब तक उनके दिमाग में कोई नया विचार नहीं आता। अक्सर वाक्य की नकल करने से पहले ही उन्हें नया विचार सूझ जाता। मैं भी इसी तकनीक का इस्तेमाल करता हूँ और मैंने इस प्रकार के लेखन को "नॉन-स्टॉप" का नाम दिया है। कभी-कभी मैं छात्रों को "नॉन-स्टॉप" का विषय देता हूँ, पर ज़्यादातर मैं उन्हें उनकी मर्ज़ी के विषय चुनने देता हूँ। आजकल (1969 की सर्दियों में) बर्कले में मेरे छात्र और मैं भी रोज़ाना दस से पन्द्रह मिनट तक इसी प्रकार का लेखन करते हैं। अभ्यास के दौरान हमारे दिमाग में विचार इतनी तेज़ी से आते हैं कि हमारे लिए उन्हें लिख पाना मुश्किल हो जाता है। कुछ छात्रों को इस प्रकार के लेखन में बड़ा आनन्द आता है। कभी-कभी मैं उन्हें लिखे हुए अपने शब्दों को खुद गिनने को कहता हूँ। यह सिर्फ उनकी जानकारी के लिए होता है, मुझे बताने के लिए नहीं। कभी-कभी बच्चों को अपने लेख मुझे देने पड़ते हैं, पर अधिकतर यह निजी लेखन उनके खुद के लिए ही होता है।

यह निजी लेखन काफी उपयोगी सिद्ध हुआ है। पहले तो अँग्रेज़ी की किसी भी कक्षा में — खास तौर पर किसी भी बड़ी कक्षा में — बच्चों को यदि केवल उतना ही लिखना होता है जितना शिक्षक पढ़कर जाँच पाए, तो वे बहुत कम लिखते हैं। इसका एक ही इलाज है। बच्चे इतना अधिक लिखें जिसे शिक्षक पढ़ ही न पाए। दूसरा, जब बच्चे खुद अपने लिए लिखेंगे तो वे ऐसी बहुत सारी बातें लिखेंगे जिन्हें वे किसी को पढ़वाना नहीं चाहेंगे। बच्चे ऐसा तब करते हैं जब वे समझ जाते हैं कि यह लेखन उनका निजी लेखन ही रहेगा, कि शिक्षक उसे पढ़ेगा नहीं। (ऐसा होने में थोड़ा समय

लगता है।) इस चीज़ का महत्व है, क्योंकि इससे न केवल वे अपने मन की भड़ास ही निकाल पाते हैं बल्कि वे अच्छा लिखना सीख पाते हैं। यह मुमकिन है कि जब वे कोई ऐसी बात लिखेंगे जो उनके लिए महत्वपूर्ण है तो वे अपने लेखन पर ज़्यादा ध्यान देंगे।

कुछ अँग्रेज़ी शिक्षकों के अनुसार छात्रों के लिए निजी लेखन तभी उपयोगी सिद्ध होगा जब उसे शिक्षक जाँचेंगे। मैं कई कारणों से इससे असहमत हूँ। पहले तो अधिकांश छात्र, विशेषकर गरीब छात्र, जाँचे गए कार्य को कभी पढ़ते ही नहीं हैं क्योंकि ऐसा करना उबाऊ और दुखदाई होता है। दूसरा, जाँचे हुए कार्य को पढ़ने से भी उन्हें कोई मदद नहीं मिलती है और वे आगे के अपने लेखन में शिक्षक के सुझावों का समावेश नहीं करते हैं। यह तब भी सच होता है जब छात्रों को शिक्षक की बातों पर विश्वास होता है।

तीसरी बात सबसे महत्वपूर्ण है। हम लिखकर ही सही लेखन सीखते हैं, अन्य लोगों के लेखन सम्बन्धी विचारों को पढ़कर नहीं। अगर छात्रों को किसी चीज़ की सख्त ज़रूरत है तो वह है लिखने का अभ्यास, खासकर उन चीज़ों के विषय में जिन्हें वे महत्वपूर्ण समझते हैं। अपने महत्वपूर्ण विचारों को लिखने से छात्रों को सन्तोष मिलेगा और वे इन्हें बहुत प्रभावशाली और स्पष्ट शब्दों में लिखने में रुचि लेंगे।

अँग्रेज़ी और अन्य भाषाओं के शिक्षक अपना बहुत मूल्यवान समय और ऊर्जा हिज्जों में लगाते हैं। आम तौर पर यह व्यर्थ का काम है। इससे कुछ लाभ नहीं, उलटे नुकसान ही होता है। हमें अपने आप से यह प्रश्न पूछना चाहिए, "लोग सही हिज्जे किस प्रकार लिख पाते हैं? जब उन्हें किसी शब्द के सही हिज्जे नहीं मालूम होते हैं तो वे क्या करते हैं?" मैंने यह प्रश्न उन तमाम लोगों से पूछा है जो हिज्जों में अच्छे हैं। हरेक से मुझे एक-जैसा ही उत्तर मिलता है। वे तत्काल शब्दकोश को नहीं पलटते हैं और न ही वे नियमों को याद करने की कोशिश करते हैं। वे उस शब्द को कई अलग-अलग तरीकों से लिखते हैं, उन्हें सावधानी से देखते हैं, और उनमें से उस शब्द को चुन लेते हैं जिसके हिज्जे बाकियों से ज़्यादा सही लग रहे होते हैं। अक्सर वे सही होते हैं।

हिज्जे लिखने में कुशल लोगों को पता होता है कि शब्द कैसे दिखते हैं। यहाँ तक कि वे उन्हें अपनी माँसपेशियों में महसूस तक कर सकते हैं। शब्दों के बिम्ब उनके मस्तिष्क में अंकित होते हैं और वे उन बिम्बों पर

विश्वास करते हैं। बच्चों को हिज्जे "सिखाते" समय हम उनमें इस प्रकार की कुशलताएँ विकसित नहीं करते, उलटा उन्हें नष्ट करते हैं या उनके विकास को रोकते हैं।

सबसे पहली और सबसे बुरी बात जो हम करते हैं वह यह है कि हम बच्चों में हिज्जों के बारे में चिन्ता पैदा कर देते हैं। किसी शब्द की गलत लिखाई को हम एक अपराध मानते हैं और गलती करने वाले को भारी सज़ा देते हैं। बहुत से शिक्षक बच्चों में "हिज्जों के प्रति चेतना" जगाने की बात करते हैं। वे छात्रों द्वारा लिखे सुन्दर निबन्धों में लिखाई की चन्द गलतियों के कारण उन्हें फेल कर देते हैं। इस तरीके से उन्हें खुद ही हार का सामना करना पड़ता है। चिन्ता की अवस्था में हमारी समझदारी और सुध मारी जाती है। हरेक व्यक्ति यह जानता है कि भावनात्मक दबाव में सरल-से-सरल चीज़ों को याद करना भी बहुत मुश्किल होता है। उस समय भरसक प्रयासों के बावजूद चीज़ों को खोजना कठिन होता है। जब हम बहुत चिन्तित होते हैं तब हम अपने मस्तिष्क द्वारा भेजे सन्देशों पर भी विश्वास नहीं करते। बहुत से बच्चे हिज्जों की गलतियाँ इसलिए करते हैं क्योंकि वे अपने अनुमान के सही होने के बावजूद उस पर यकीन नहीं करते। मैंने अक्सर बच्चों के लेखों में पाया है कि वे पहले शब्द को सही लिखते हैं और फिर उसे काटकर गलती करते हैं।

कुछ ऐसी तरकीबें हैं जिनसे बच्चे अपने मस्तिष्क में शब्दों के ज़्यादा स्पष्ट बिम्ब बना सकते हैं। कुछ शिक्षक इनका उपयोग भी करते होंगे। एक तरीका है हवा में लिखना, यानी शब्द को उँगली से हवा में "लिखना" और उसके बिम्ब को "देखना"। मैंने पाँचवीं के बच्चों के साथ हवा में या फिर मेज़ की सतह पर, जहाँ उँगली कोई छाप नहीं छोड़ती, लिखाई का परीक्षण किया। अधिकांश बच्चे इससे बहुत उत्साहित हुए। मुझे अभी भी उनकी कुछ बातें याद हैं, "वास्तव में तो वहाँ कुछ भी नहीं है, फिर भी मुझे दिखाई दे रहा है!" यह जादू जैसा लगता था। जब मैं छोटा था तो इस प्रकार हवा में लिखना मुझे बहुत पसन्द था। इसमें कोई मेहनत नहीं लगती थी, खूब मज़ा आता था, और सन्तोष मिलता था। मैं हवा में "पैसा, पैसा, पैसा," लिखा करता था, इसलिए नहीं क्योंकि मुझे पैसे चाहिए होते थे बल्कि इसलिए क्योंकि मुझे इस शब्द की लिखाई में मज़ा आता था।

एक और तरीका है जो बच्चों को अपने मस्तिष्क में शब्दों के स्पष्ट बिम्ब बनाने में सहायक हो सकता है। इसमें बच्चे बहुत तेज़ी से शब्दों या चीज़ों

को देखते हैं। इसके लिए एक मशीन भी है — टैचिस्टोस्कोप। परन्तु इस मशीन के बहुत महँगा होने के कारण बहुत से बच्चे इसका उपयोग कभी नहीं कर पाएँगे। कुछ तीन इंच चौड़े और पाँच इंच लम्बे एवं चार इंच चौड़े और आठ इंच लम्बे फाइल कार्डों द्वारा इस मशीन के प्रभाव को पैदा किया जा सकता है। आप छोटे कार्डों पर बच्चों के देखने के लिए शब्द लिखें, या चित्र बनाएँ। आप एक बड़े कार्ड को छोटे कार्ड के ऊपर रखें, उसे एक क्षण के लिए झटके से हटाएँ और फिर छोटे कार्ड को वापस उससे छिपाएँ। इस प्रकार आप मुफ्त का टैचिस्टोस्कोप बना पाएँगे जिससे बच्चा खुद काम कर सकेगा।

एक बार पहली कक्षा को पढ़ाते हुए मुझे लगा कि वे भी मेरे पाँचवीं के छात्रों की तरह ही, बिना रुके, मुक्त, नॉन-स्टॉप लेखन का आनन्द लें। दोपहर के भोजन अवकाश से चालीस मिनट पहले मैंने उनसे कागज़ पर पेंसिल से अपनी मर्ज़ी से कुछ भी लिखने को कहा। उन्हें यह बात पसन्द आई, परन्तु तभी एक बच्चे ने चिन्ता के भाव में मुझसे पूछा, "अगर हम सही तरीके से किसी शब्द को लिख न पाएँ, तो?"

"उसकी बिल्कुल फिक्र न करना," मैंने कहा, "तुमसे जितना अच्छा बन पाए वैसा लिखना।"

कमरे में एकदम शान्ति छा गई। मुझे बच्चों के चिन्तित चेहरे और स्थिर पेंसिलें ही दिखाई दीं। स्पष्ट था कि यह सही तरीका नहीं था। इसलिए मैंने कहा, "अच्छा, मैं बताता हूँ कि तुम्हें क्या करना है। जब भी तुम्हें कोई शब्द लिखने में दिक्कत हो तो तुम मुझे बताना और मैं उसे ब्लैकबोर्ड पर लिख दूँगा।"

इससे बच्चों को बहुत सांत्वना मिली और वे काम में लग गए। जल्दी ही बच्चे शब्दों को ब्लैकबोर्ड पर लिखने का आग्रह करने लगे। मैं एक शब्द लिखता इतनी देर में कोई दूसरा पूछ बैठता। भोजन के अवकाश तक लगभग पूरा ब्लैकबोर्ड शब्दों से भर चुका था। रोचक बात यह थी कि बच्चों द्वारा पूछे गए अधिकांश शब्द उनकी पुस्तकों या कापियों में लिखे शब्दों से कहीं अधिक लम्बे और कठिन थे। शब्दों के हिज्जों से मुक्ति पाने के बाद बच्चे बहुत कठिन और रोचक शब्दों का भी उपयोग करने के लिए लालायित थे।

अगले दिन स्कूल शुरू होने के समय तक ब्लैकबोर्ड पर वे शब्द लिखे पड़े

थे। उनको मिटाने से पहले मैंने बच्चों से कहा, "देखो, मुझे ब्लैकबोर्ड पर लिखे शब्दों को अब मिटाना ही होगा, परन्तु उन्हें मिटाने से पहले मैं केवल उत्सुकता के कारण यह जानना चाहूँगा कि क्या तुम्हें इनमें से कुछ शब्दों के सही हिज्जे याद हैं।"

इसके परिणाम आश्चर्यजनक रहे। मुझे लगा कि शब्द पूछने और इस्तेमाल करने वाले बच्चे को ही शायद उसके हिज्जे याद रहे होंगे, बाकी बच्चों को नहीं। परन्तु बाकी बच्चों को भी ब्लैकबोर्ड पर लिखे बहुत से शब्द याद रहे। उन्होंने उन शब्दों को कैसे सीखा? शायद जब मैं शब्दों को ब्लैकबोर्ड पर लिख रहा था, उस समय बहुत से बच्चों ने अपना सिर उठाकर उन्हें शान्ति और उत्सुकता से देखा होगा। वे सिर्फ शब्द की लिखाई को देखना चाहते होंगे। परन्तु उन शब्दों के बिम्ब और उनका उच्चारण उनके दिमाग में अच्छी तरह अंकित हो गया होगा और अगले दिन तक उन्हें याद रहा। बच्चों द्वारा लिखाई और हिज्जे सीखने का मुझे यही सबसे अच्छा तरीका लगता है।

अगर स्कूल और शिक्षक बच्चों को किसी पुराने घिसे-पिटे तरीके से भाषा सिखाकर उसे खराब कर रहे हों तो इसमें माँ-बाप को क्या करना चाहिए? सबसे पहले तो आप उन्हें बदलने का प्रयास करें, या कम से कम उन्हें बताएँ कि आप खुद परिवर्तन के लिए उत्सुक हैं। आप अन्य पालकों से भी चर्चा करें, पालक-शिक्षक समितियों में इन मुद्दों को उठाएँ, स्कूल के अँग्रेज़ी विभाग और बच्चे के शिक्षक के साथ बातचीत करें। बहुत से स्कूल और शिक्षक माता-पिता की राय जानने के इच्छुक होते हैं।

अगर स्कूलों और शिक्षकों को मनाना कठिन हो, तो क्या करें? शायद आप यही कोशिश कर सकते हैं कि आप का बच्चा स्कूल से ऊबे नहीं, निराश और चिन्तित न हो। आप स्कूल की माँगों को पूरा करने में बच्चे की मदद करें, *चाहे ये माँगें* मूर्खतापूर्ण ही क्यों न हों। और साथ-साथ घर में उसे रोचक और वैकल्पिक साधन उपलब्ध कराएँ — बहुत-सी पुस्तकें और बातचीत, और जब बच्चा बात करना चाहे तो उसे इज़्ज़त और गम्भीरता से सुनें। गर्मी की छुट्टियों में अपने चाचा से लम्बी बातचीत में मुझे कक्षा की तुलना में कहीं अधिक रोचक अँग्रेज़ी सीखने को मिलती थी। चाचा के साथ बातचीत में उम्र आड़े नहीं आती थी क्योंकि वे मेरी बातों को बहुत ध्यान से सुनते थे।

कॉलेज का पहला साल पूरा करने के बाद एक लड़की ने, जिसे मैं जानता था, अपनी माँ को लिखा, "वाह! क्या बात है! ज़रा सोचो कि अब मुझे कभी अँग्रेज़ी नहीं पढ़नी पड़ेगी!" परन्तु वह लड़की अँग्रेज़ी की एक मेधावी छात्रा रही थी। उसे हमेशा से पुस्तकें पढ़ने, लिखने और विचारों को जानने का शौक था। यह कितनी बेकार और मूर्खतापूर्ण बात है कि शिक्षक अँग्रेज़ी जैसे रोचक, लचीले और सृजनशील विषय को बच्चों के लिए एक उबाऊ विषय बना देते हैं। हम आशा करें कि इसमें कुछ परिवर्तन होगा और हम एक बेहतर शुरुआत की ओर बढ़ेंगे।

— 1967

व्यवस्था और अव्यवस्था

येल एलुम्नाई मैगज़ीन में गरीब बस्तियों में स्कूली शिक्षा पर एक लेख छपा था। मैंने एक पत्र में इस लेख को पढ़कर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की। उसी प्रतिक्रिया का एक संक्षिप्त और सम्पादित अंश नीचे दिया गया है।

हमारे स्कूल इस बात पर अटके हुए हैं कि कक्षा में सीखना अनुशासन का ही नतीजा है। सच असल में इससे उलट है। कक्षा में बच्चे जमकर शोर इसलिए मचाते हैं क्योंकि वहाँ पर उससे अच्छा कुछ और करने के लिए होता ही नहीं। बच्चे कुछ करना चाहते हैं। इसमें भीरू बच्चों को डर लगता है। पर हमारे-आपके शहरी बच्चे, जिन्हें समाज का भय नहीं होता या उससे कुछ लेना-देना नहीं होता, कुछ करने में हिचकिचाते नहीं। वैसे भी सच्ची सीख कोई व्यवस्थित प्रक्रिया नहीं होती।

एक शिक्षक कहता है, "मुझे पता ही नहीं था कि कौन-सी पुस्तकें इस्तेमाल करूँ। कई पुस्तकों के शीर्षकों का उच्चारण तक नहीं आता था। बुलेटिन

बोर्ड पर क्या लगाना है, उन चार बच्चों के साथ क्या करना है जो सिर्फ स्पेनिश भाषा में ही बोलते हैं, या फिर ब्लैकबोर्ड पर अपनी अस्पष्ट लिखाई को कैसे सुधारना है।" ये वास्तविक समस्याएँ अवश्य हैं, पर क्या इनका समाधान खोजना बहुत कठिन है? पुस्तकें? बच्चों से क्यों न पूछें उन पुस्तकों के बारे में जो उन्होंने कभी पढ़ी हैं और जो उन्हें पसन्द हैं; या फिर क्या उनकी कुछ और चीज़ों में रुचि है? शुरुआत के तौर पर कुछ अश्वेत लेखकों की पुस्तकों से बच्चों का परिचय क्यों न कराएँ? यह सुझाव हर जगह सफल हुआ है। नामों का उच्चारण? उनसे ही क्यों न पूछें? बुलेटिन बोर्ड? क्यों न ऐसी चीज़ों को चिपकाएँ जिनमें सबकी रुचि हो? *लाईफ* और *लुक* नाम की दोनों पत्रिकाओं का शायद ही कोई ऐसा अंक हो जिनमें एक-दो नहीं, कम-से-कम बीस रोचक चित्र न हों। स्पेनिश बोलने वाले बच्चे? इन बच्चों से बात करने के लिए क्यों न कुछ स्पेनिश ही सीखें? आखिर, अगर हमें इन बच्चों से एक साल में अँग्रेज़ी सीखने की अपेक्षा है तो शिक्षक को भी थोड़ी-बहुत स्पेनिश तो सीखनी ही चाहिए। हाथ की लिखाई? छपाई क्यों न करें? या फिर अभ्यास क्यों न करें? या फिर बच्चों को इस सच्चाई से अवगत क्यों न करा दें कि अधिकांश वयस्कों की लिखाई बहुत खराब होती है, और इसे सबकी समस्या के रूप में पेश करें?

बाद में, वह "सामूहिक मौन सहमति की रणनीति" की बात करता है। और एक बार फिर, "जब बच्चे यह परीक्षण कर रहे होते हैं कि वे कक्षा में कितना नियंत्रण हासिल कर सकते हैं।" यह स्कूली शिक्षकों का एक लोकप्रिय मिथक है। यह बकवास है। बच्चे कक्षा को नियंत्रित नहीं करना चाहते; वे नियंत्रण से बाहर निकलना चाहते हैं। वे जो कुछ भी करते हैं इसलिए करते हैं क्योंकि वे कक्षा से घृणा करते हैं और क्योंकि वहाँ उनसे हमेशा उबाऊ और बेवकूफी भरे काम करने को कहा जाता है। अन्य समझदार लोगों की तरह ही बच्चे भी सीधी लाइन बनाकर फिज़ूल में नहीं खड़े रहना चाहते। हाँ, कभी-कभी लाइन बनाना ज़रूरी होता है, जैसे बस का इन्तज़ार करते हुए या टिकट खिड़की के सामने। यहाँ लाइन बनाने से यह निश्चित हो जाता है कि लाइन में आगे वाले को पहले टिकट मिलेगा। परन्तु एक से दूसरी इमारत में सीधी लाइन में चलकर जाना पूरी तरह मूर्खता है। फिलेडैल्फिया की एक बस्ती के स्कूल में काम कर रही एक अनुभवी शिक्षिका ने मुझे बताया कि वैसे तो स्कूल को सीधी लाइनों की "आवश्यकता" होती है, परन्तु उसने इस आवश्यकता को बरसों से

अनदेखा किया है। वह घर जाने की छुट्टी के समय बच्चों को जाने के लिए तैयार करती है, उन्हें डेस्क पर ही बैठे रहने देती है, फिर कभी एक को, कभी चार-पाँच बच्चों के समूह को कक्षा से बाहर जाने देती है। कक्षा से कितने बच्चे एक-साथ बाहर जाएँगे यह उनके शोर मचाने की क्षमता पर निर्भर करता है। बच्चों को यह तरीका अधिक व्यावहारिक लगता है और उसे सफल बनाने में वे शिक्षिका का सहयोग करते हैं। अगर वे बहुत ज़्यादा शोर मचाएँगे तो कोई उनकी शिकायत करेगा और फिर वे और अधिक मुश्किल में फँसेंगे। इसलिए वे ज़्यादा मुसीबत खड़ी नहीं करते। शिक्षिका के साथ किसी होड़ में उनकी रुचि नहीं। वे भी उसकी तरह कक्षा से निकलकर घर जाना चाहते हैं। बच्चों को अगर हम मौका दें तो वे बड़े समझदार होने का परिचय देते हैं।

स्कूल का प्रबन्धन एकदम गैरज़िम्मेदार और ढीला था। इससे शिक्षक का काम और मुश्किल हो जाता था। स्कूल ने शिक्षक को यह तक नहीं बताया कि छुट्टियाँ खत्म होने के बाद उसे क्या पाठ्यक्रम पढ़ाना था। लेकिन वह कहता है, "क्योंकि मुझे बच्चों की सीखने की ज़रूरतों के बारे में इतना कम पता था इसलिए मैंने उन्हीं पाठों को चुना जिन्हें मैं पढ़ाने में सक्षम था।" क्या उसे यह नहीं पता था कि पहले का दूसरे के साथ कोई सम्बन्ध है? बहुत से शिक्षकों को इसका पता नहीं होता।

हिज्जे? किन शब्दों के हिज्जे सिखाने हैं यह जानने का सबसे अच्छा स्थान बच्चों के खुद के लेख हैं। अगर बच्चे लिख नहीं रहे हैं, यदि उनकी किसी चीज़ में इतनी दिलचस्पी ही नहीं है कि वे उसके बारे में लिखें, तो पहली समस्या यह है, हिज्जे नहीं। शिक्षक के अनुसार बच्चे छठवीं कक्षा के स्तर की पुस्तकें नहीं पढ़ पा रहे थे। हम निश्चित रूप से यह दावा कैसे कर सकते हैं? अब हमें पता है कि बहुत से बच्चे जिन्हें शहरी स्कूलों ने पढ़ने के अयोग्य पाया है दरअसल वयस्कों की पुस्तकें पढ़ रहे होते हैं, जैसे *द ऑटोबायग्राफी ऑफ मैल्कोम एक्स*, *द फायर नेक्स्ट टाइम* आदि। इसका सही तरीका यह है कि बच्चे के समक्ष ऐसी पुस्तकें, पत्रिकाएँ, लेख, या अखबार की कहानियाँ रखी जाएँ जिनके बारे में वह कुछ जानना चाहता हो। बाकी काम बच्चा खुद अपने आप कर लेगा। अगर उसे सहायता की आवश्यकता होगी तो वह खुद ही सहायता माँग लेगा।

वह एक घटना का विवरण देता है जब एक अच्छे पाठ में विघ्न पड़ा। "कक्षा में सारी पढ़ाई अँग्रेज़ी में हो रही थी जिसका एक शब्द भी स्पेनिश

बोलने वाले लड़के के पल्ले नहीं पड़ रहा था। उस लड़के ने उस समय अपनी डेस्क को साफ करने का इरादा बनाया।" असल में शायद बालक ने उस समय चर्चा का अन्त करने का निर्णय लिया, इसलिए क्योंकि वह उसमें कोई भाग नहीं ले पा रहा था। बाद में गणित की कक्षा में आग बुझाने वाले ट्रक के आने के कारण विघ्न पड़ा। क्या एक निश्चित पाठ-योजना वाकई इतनी पवित्र चीज़ है? क्या आग बुझाने वाले ट्रक, फायर-ब्रिगेड, या वह सरकारी संस्था जो आग बुझाने का काम करती है किसी सार्थक चर्चा का विषय नहीं बन सकते? क्यों न हम अपने सामने आ जाने वाले अवसरों को उपयोग में लाएँ? आग लगने से नुकसान होता है। कितना नुकसान? आग बुझाने वाले को कितना वेतन मिलता है? उसके काम का उपयुक्त वेतन क्या होगा? जो आदमी अपनी जान की बाज़ी लगाता है उसे कितना वेतन मिलना चाहिए? फायरमैन बनने के लिए बच्चे कौन-से प्रश्न पूछेंगे? अगर फायरमैन की जान चली जाए तो उसके परिवार को कितना मुआवज़ा मिलना चाहिए? एक परिवार को जीवनयापन के लिए कितने धन की आवश्यकता होती है? आदि।

वह कहता है, "मेरे कुछ बच्चे 70 डिग्री तापमान में भी अपनी जैकेट क्यों नहीं उतार रहे थे यह जानने में मुझे काफी समय लगा। बच्चों के अन्दर के कपड़े पुराने और फटे हुए थे, उन्हें शर्म महसूस हो रही थी।" वह यह मालूम कर पाया उसके लिए उसे बधाई। परन्तु बच्चों से जैकेट उतरवाने का शिक्षकों को हक कैसे मिला? मैंने बहुत-सी कक्षाओं को पढ़ाया है। मैं कभी कक्षा की शुरुआत बच्चों के कोट उतरवाने से नहीं करूँगा। यह उनका अपना निजी मामला है और अगर मैं उसमें दखल दूँगा तो बच्चों का गुस्सा होना स्वाभाविक होगा। इस मामले में हम बच्चों को वही इज़्ज़त और आदर क्यों नहीं दे सकते जो हम किसी भी अन्य मनुष्य को देते हैं?

तो उसके छात्रों ने उससे कहा कि वह उन्हें अच्छा बनाने के लिए मारे-पीटे। इस बात पर मुझे ज़रा भी शक नहीं है। बच्चों को यह बात लोग सालों से बताते आ रहे हैं। पर उससे यह बात सही नहीं हो जाती, और हमें इसके सरासर गलत होने का पता होना चाहिए। जो लोग बच्चों को यह बतलाते रहे हैं कि यह बात सही है, वे उनके साथ बहुत बड़ा अन्याय करते रहे हैं और उन्हें नुकसान पहुँचाते रहे हैं। वह आगे जाकर कहता है कि वह इस निर्णय पर पहुँचा है कि इन बच्चों के साथ आदर से पेश आना चाहिए। परन्तु "आदर" की उसकी परिभाषा बहुत विचित्र है। उसके अनुसार किसी का आदर करने का मतलब उसे आदेश देना है। आदेशों के पालन

पर उसे पुरुस्कार देना और न मानने पर उसे सज़ा देना है। संक्षेप में, उसके साथ बराबरी का नहीं, एक गुलाम जैसा व्यवहार करना। इन बच्चों को जो मिलना चाहिए था वह ऐसी चीज़ थी जो उन्हें पहले कभी नहीं मिली: एक अलग प्रकार का आदर जो शिक्षक उनके प्रति दिखा सकता था, जिससे बच्चों को लगता कि वे समझदार और संवेदनशील इंसान हैं या कोशिश करके वैसा बन सकते हैं। किसी का आदर करने का मतलब है उस पर विश्वास करना। और इस विश्वास को स्पष्ट कर देना।

वह आगे काफी सन्तोष के साथ एक घटना का ज़िक्र करता है। एक दिन उसने पाठ से पहले एक बच्चे को तैयार करने के लिए उसकी डेस्क को उठाकर उसका सारा सामान ज़मीन पर पटक दिया। मुझे यह कहानी बेहद अपमानजनक और घृणित लगी। यदि कोई जवाब दे कि "उससे काम बन गया", तो उसके बारे में मैं केवल यही कह सकता हूँ कि "काम" तो बहुत-सी बातों से बन जाता है। जहाँ काम करवाने की बात है तो नात्सी जर्मनी में भी "काम बनता था"। अगर वह अपने आप से यह प्रश्न पूछता तो बेहतर होता कि न्यू यॉर्क में रहने वाले प्यूरटो रिको के किसी भी समझदार बालक की मिस्र के फेरो के बारे में सुनने की रुचि क्यों नहीं होगी। बस्ती के बच्चों पर जिस प्रकार की बेहूदा और निरर्थक शिक्षा थोपी जा रही है उसका वर्णन करने के लिए मुझे ऊपर का उदाहरण ही सबसे उपयुक्त लगता है। इसमें कोई अचरज की बात नहीं कि बच्चे उसमें कोई रुचि नहीं लेते। वह कहता है, "सत्र के शुरू में बच्चों की कापियों को फाड़ना, पेंसिलों को तोड़ना, उनके सामान को डेस्क से उठाकर ज़मीन पर फेंकना, शिक्षकों द्वारा किया बेहद क्रूर और पाशविक काम लग सकता था।" परन्तु शिक्षक वाकई क्रूर और पाशविक ही तो थे। और अगर बच्चे उसकी माँग कर रहे थे, मान लें कि वे ऐसा कर रहे थे, तो शायद इसलिए क्योंकि उन्हें किसी अन्य व्यवस्था का अनुभव ही नहीं था। क्या उन्हें कुछ भिन्न और बेहतर व्यवस्थाओं से परिचित कराना हमारा कर्त्तव्य नहीं बनता है? क्या हमें बच्चों को चुपचाप सत्ता पर निर्भर होने से दूर नहीं करना चाहिए ताकि वे अपनी आज्ञाकारी-विद्रोही भूमिका को त्याग दें और समझदार एवं स्वतंत्र इंसानों की तरह सोचना और व्यवहार करना शुरू कर दें?

बच्चों के लिखाई के विषय को मैं यहाँ नहीं लूँगा क्योंकि हरबर्ट कोह्ल की पुस्तक *36 चिल्ड्रन* हारलेम के बच्चों की लिखाई की काफी प्रभावपूर्ण और सम्पूर्ण व्याख्या करती है। मैं इतना ज़रूर कहूँगा कि यदि गरीब बस्तियों

के बच्चे मानक अँग्रेज़ी नहीं बोल पाते तो इस कारण वे "बातचीत में अपंग" नहीं हो जाते। ऐसा मानना एक गम्भीर गलती करना है। गरीब बस्तियों के बच्चों की बोल पाने की असमर्थता को लेकर कई मूर्ख बातें लिखी गई हैं। मेरा और कई अन्य लोगों का यह अनुभव है कि अनुकूल परिस्थितियों में, विश्वसनीय लोगों के सामने ये बच्चे बड़ी कुशलता से और धाराप्रवाह भाषा में बोलते हैं। पर इन बच्चों का विश्वास जीतना कोई आसान काम नहीं। इस विश्वास को हम वाक्य के अन्त में विराम लगाने के सरल नियम सिखाकर नहीं जीत सकते। अगर हम अर्धशिक्षित बच्चों को लिखना सिखाना चाहते हैं तो शुरुआत के लिए यह गलत बिन्दु होगा।

बहुत से शिक्षक कक्षा में बच्चों को बोलने के लिए प्रेरित नहीं कर पाते हैं। जो बच्चे बड़ों जैसी भाषा में नहीं बोल पाते उन्हें शिक्षक नीचा समझते हैं। पिछले वर्ष मैंने येल विश्वविद्यालय में सफल छात्रों की एक बैठक में भाग लिया। स्कूल के सबसे निचले स्तर से ऊपर उठे इन नवयुवकों ने कई घण्टों तक कुछ वयस्कों को अपने स्कूलों की खामियों के बारे में बताया। सबसे अधिक आश्चर्य मुझे इन छात्रों की भाषा पर हुआ। जैसे-जैसे इन नवयुवकों को लगा कि हमें उनकी बातों में गहरी रुचि है और हम उनका कोई मूल्यांकन करने नहीं आए हैं, वैसे-वैसे उनकी बोलने की शैली बदलती गई। जब उन्होंने बोलने की शुरुआत की तो उनको समझ पाना ही मुश्किल था, पर कुछ घण्टों के बाद वे बड़े प्रभावशाली ढंग से बोल रहे थे और उनकी भाषा मानक अँग्रेज़ी के काफी करीब थी। इस प्रकार की घटना को अनुभव करने का मेरा यह पहला मौका नहीं था। न्यू यॉर्क में लोअर ईस्ट साइड ऍक्शन प्रोजेक्ट (लीप) में भी मैंने प्यूरटो रिको मूल के नवयुवकों को कुछ वयस्कों के सामने अपनी समस्याओं, उम्मीदों और आकांक्षाओं को व्यक्त करते हुए सुना था। इनमें से ज़्यादातर बच्चे स्कूलों को छोड़ चुके थे। उन्हें सुनकर कोई भी नहीं कह सकता था कि वे भाषा का सशक्त और प्रभावशाली उपयोग नहीं जानते थे। असल में उनके द्वारा इस्तेमाल की गई भाषा वहाँ पर मौजूद बहुत से पढ़े-लिखे लोगों की तुलना में कहीं अधिक प्रभावशाली थी।

लेख के अन्त में ऐसा लगता है कि इस शिक्षक को उन बातों का अहसास होने लगा था जो मैं यहाँ कर रहा हूँ। इस तरह वह कहता है, "पर जब कभी मैंने बच्चों की मनपसन्द रुचियों की बात की तो उनकी उत्सुकता जाग उठी और उनका चेहरा खिल उठा। मैं एक बार कक्षा में *ऑटोबायग्राफी ऑफ मैल्कोम एक्स* लेकर आया। मैंने बच्चों को बताया कि मैल्कोम ने

अपना बचपन हमारे स्कूल से कुछ दूर ही गरीबी में बिताया था। पुस्तक का छोटा-सा अंश पढ़ने के बाद ही बच्चे कूदने लगे और अपने प्रश्न और टिप्पणियाँ करने लगे : "क्या बिना किसी शिक्षक के ही मैल्कोम ने शिक्षा प्राप्त की?" "वे देखने में कैसे लगते थे?" "उन्हें कहाँ पर गोली लगी?" ऐसा लगता है कि बातचीत में जिस अवरोध का ज़िक्र शिक्षक आम तौर पर करते हैं वह पूरी तरह से खत्म हो गया हो। आगे वह कहता है, "बच्चों को लगा कि मैं पहले से सावधानी से तैयार किया कोई पैकेज उन्हें नहीं थमा रहा था। उन्होंने इस प्रकार उत्तर दिए जैसे उनके विचारों से कुछ अन्तर पड़ा हो।" मैं आखिरी बात पर दोबारा बल दूँगा – इस प्रकार उत्तर दिए *जैसे उनके विचारों से कुछ अन्तर पड़ा हो।* इसी का नाम आदर है, बच्चों के सामान को ज़मीन पर पटकना और उनकी कॉपियों को फाड़ना नहीं। इसका मतलब होता है बच्चों से ऐसा बर्ताव करना कि उन्हें लगे कि उनके विचारों से कुछ अन्तर पड़ सकता है। अगर हम लोगों के साथ इस तरह बर्ताव करेंगे तो चाहे वे किसी भी पृष्ठभूमि, रंग या उम्र के हों, संप्रेषण की बाधाएँ टूट जाएँगी और सीखने का माहौल बनेगा। यही बात हमारे हरेक स्कूल में होनी चाहिए – येल से लेकर हारलेम तक – पर दुर्भाग्यवश ऐसा बहुत कम ही होता है।

– 1968

असम्भव पढ़ाई को पढ़ाना

कुछ साल पहले देश में जब गरीबी उन्मूलन का काम शुरू हुआ और हमें अपने गरीब लोग नज़र आने लगे, तो शहर की झुग्गी-झोपड़ियों और बस्तियों में पल रहे बच्चों के बारे में ढेरों लेख लिखे जाने लगे। इन लेखों से लगता था कि ये बच्चे काफी अजीबो-गरीब और निःशब्द किस्म के जीव थे। हमें बताया गया कि उन्हें चीज़ों के नाम नहीं पता थे। चीज़ों के नाम होते हैं यह भी नहीं पता था। यहाँ तक कि खुद अपने नाम तक भी नहीं पता थे। हमें बताया गया कि क्योंकि इन बच्चों ने कभी असली भाषा सुनी ही नहीं थी, इसलिए वे दो-चार शब्दों के अलावा कुछ भी बोल नहीं सकते थे। जिन लोगों ने ये बातें लिखीं वे गम्भीर और संवेदनशील थे, और उन्हें अपने लिखे हरेक शब्द पर विश्वास था, और अन्य लोगों की तरह ही मैं भी उनकी बातों पर यकीन करने लगा।

लेकिन किसी बच्चे को अपना नाम आता है या नहीं, इसका पता आप कैसे लगाएँगे? आप सहृदयता से मुस्कुराते हुए, नम्र और आश्वस्त करने वाली आवाज़ में उससे पूछ सकते हैं, "तुम्हारा नाम क्या है?" अगर वह जवाब नहीं देता है तो इसका अर्थ शायद यह होगा कि वह अपना नाम नहीं जानता है। या शायद अगर आप उसका नाम पहले से जानते हों तो आप उसे उसके नाम से बुला सकते हैं। अगर वह अपना नाम सुनने के बाद भी कोई हरकत नहीं करता है या जवाब नहीं देता है, तो इससे फिर यही ज़ाहिर होता है कि उसे अपना नाम नहीं पता। यह सरल है।

परन्तु जैसे कि मिस्टर कोह्ल और अब कुछ अन्य लोगों ने भी दिखाया है बात इतनी सरल नहीं है। यह ठीक है कि आप बच्चों की हरकतों के आधार पर निर्णय ले सकते हैं कि वे क्या जानते हैं, परन्तु इसमें यह सम्भावना छूट जाती है कि बच्चा आपके सामने कुछ भी न करने का मन बनाए। शायद उसे स्कूल में कम-से-कम बोलना और काम करना ही ठीक लगे, कम से कम तब तक जब तक कि वह इस अजनबी जगह को और इन अजनबी लोगों को जान नहीं लेता।

मुझे अचानक 1943 में, न्यू लन्दन में हुई सबमरीन अधिकारियों के प्रशिक्षण की याद आ गई है। वहाँ पर हम 270 छात्र-अफसर अपने शिक्षकों के सामने बैठे थे। ये सभी शिक्षक नौसैनिक कप्तान थे जिन्हें प्रशान्त महासागर से बहुत दूर ले आया गया था। एक ऐसी जगह पर जहाँ वे कोई बहादुरी नहीं दिखा सकते थे। न कोई ख्याति ही अर्जित कर सकते थे, और न ही अपने पेशे में कोई खास तरक्की पा सकते थे। "हम आप लोगों को जानना चाहते हैं," उन्होंने हम से कहा। "अगर आप हमें कभी ऑफिसर्स क्लब में देखें तो कृपा करके हमें अपना परिचय अवश्य दें और हमसे बात करें।" कुछ छात्रों ने इस सुझाव पर अमल किया। नौसेना के लोग कितने दोस्ताना थे और कैसे आपका स्वागत करते थे! ये अनुभवी कप्तान कितने खुशदिल और सलोने थे और कैसे उत्साह से भरे हुए थे! हाँ, लेकिन वे सब के सब प्रशान्त महासागर में होने की बजाय न्यू लन्दन में होने से बुरी तरह दुःखी थे। वे हमेशा नाराज़ और अधीर रहते थे – वे चाहे क्लास में हों, चाहे ट्रेनिंग वाले जहाज़ पर या कहीं और। जिन छात्रों का नाम वे जानते थे उन्हीं पर वे अपना रोष उतारते थे। उन्हें मेरा नाम नहीं पता था। जब मैं वहाँ से पास होकर निकला तो केवल एक ही अफसर मेरा नाम जानता था। वह स्कूल का एक पदाधिकारी था जिसकी अनुमति लेकर ही मैं हफ्ते के अन्त में छुट्टी पर जाता था। मुझे सावधानी बरतने

का भरपूर लाभ मिला। इसलिए इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि गरीब बस्तियों के बच्चे, ऐसी जगह पर जहाँ सभी वयस्क लोग अजनबी हों, काफी सावधानी बरतते हैं।

हमारे शहरों की गरीब बस्तियों में स्थित स्कूल अपने खराब माहौल के कारण कई तरह से बच्चों का विकास कम, विनाश अधिक करते हैं। बच्चों के प्रति उनका व्यवहार लगातार शत्रुतापूर्ण रहता है। इस सब का ब्यौरा देने की ज़रूरत यहाँ नहीं है। इस कहानी को कुछ हद तक मिस्टर कोह्ल ने सुनाया है और वह हमें बार-बार सुनने को मिलेगी। मैं यहाँ एक अन्य बिन्दु पर ज़ोर देना चाहता हूँ। मिस्टर कोह्ल की पुस्तक से हमें लग सकता है कि वे एक विशेष समस्या की बात कर रहे हैं : किस प्रकार हम गरीब बच्चों को प्रभावशाली ढंग से बोलना सिखाएँ और साक्षर बनाएँ। असल में समस्या इससे कहीं बड़ी है। हमारे सबसे अच्छे स्कूलों की भी हालत कोई अच्छी नहीं है। उनमें से निकले अधिकांश बच्चे, बस्ती के गरीब बच्चों की तरह ही, न तो ठीक से बोल पाते हैं और न ही अपनी मनपसन्द चीज़ों के बारे में लिख पाते हैं। उन्हें लिखने का जो प्रशिक्षण मिलता है वो बहुत ही खराब होता है। हर साल अलग-अलग स्तरों के छात्र लाखों पन्ने लिखते हैं। इनमें से 95 प्रतिशत छात्र अपनी लिखाई की कोई परवाह नहीं करते। वे कभी भी अपनी सच्ची राय नहीं लिखते और अगर उन्हें बाध्य नहीं किया जाता तो शायद वे कभी लिखते ही नहीं। अँग्रेज़ी में हमेशा ऊँचे नम्बर पाने वाली लड़की से मैंने पूछा कि क्या उसने अपने पुराने निबन्धों को सँजोकर रखा है? वह मेरी ओर आश्चर्य से देखने लगी, "भगवान के लिए यह बताएँ कि मैं उन्हें क्यों सँभालकर रखूँ?"

आखिर क्यों? सर्वश्रेष्ठ कॉलेज से स्नातक की डिग्री लेकर निकले एक छात्र ने मुझे परीक्षा में ऊँचे अंक प्राप्त करने का गुर बताया। यह छात्र एकदम सामान्य था, कोई क्रान्तिकारी नहीं था। वह और उसके सभी साथी ऊँचे अंक प्राप्त करने के लिए प्रोफेसर के ही विचारों और मतों को, भाषा बदलकर, परीक्षा में लिख आते थे। अच्छे नम्बर पाने का यह एक अचूक तरीका है।

स्कूलों और कक्षा में फिज़ूल की बातों पर ही अधिक ध्यान दिया जाता है। इनके बारे में एक पूरी किताब लिखी जा सकती है। कक्षा में सफाई, काम में बारीकी, शिक्षक के घिसे-पिटे विचारों में आस्था को स्वतंत्र, मौलिक, ईमानदार विचारों की तुलना में अधिक महत्व दिया जाता है। आज भी बहुत से स्कूलों में हिज्जों और व्याकरण की छोटी-मोटी गलतियों

के कारण बच्चों को फेल कर दिया जाता है। निबन्धों में बच्चों की मौलिकता या अन्य खूबियों का कोई मूल्यांकन नहीं होता। हाल ही में मेरी मुलाकात आठ-नौ बरस के एक लड़के की माँ से हुई। लड़के ने एक साफ-सुथरा, अच्छा निबन्ध लिखा था, परन्तु फिर भी उसे शिक्षक ने फेल कर दिया था। कारण – बच्चे ने निबन्ध को तीन अलग-अलग रंग के पेनों से लिखा था। यह घटना एक "अच्छे" स्कूल में घटी। परन्तु स्कूलों में बच्चों द्वारा भाषा को सरल, प्रभावशाली और सुन्दर तरीके से नहीं उपयोग कर पाने का असली कारण काफी गहरा है। वह यह है कि कुछ अपवादों को छोड़कर प्राथमिक से लेकर स्नातक स्तर तक स्कूल इस बात की बिल्कुल परवाह नहीं करते कि छात्र क्या सोचते हैं, या उन्हें क्या पसन्द है, या वे क्या जानना चाहते हैं। छात्रों को क्या पढ़ना है इसका निर्णय एक तंत्र लेता है। प्राथमिक और सेकेण्डरी स्कूलों के शिक्षकों के मैनुअल में स्पष्ट निर्देश होते हैं कि वे कक्षा में चर्चा के दौरान "निम्नलिखित बिन्दुओं को उभारकर सामने लाएँ"। ऐसी चर्चा का क्या मतलब होगा?

अगर हमें छात्रों की लिखने की कुशलता को बेहतर करना है तो हमें सबसे पहले एक बात सीखनी होगी। छात्र भाषा को हमेशा अपने तरीके से उपयोग करेगा, वह प्रभावशाली हो इसकी कोशिश करेगा। वह भाषा का परीक्षण उन लोगों के साथ बात करके करेगा जो न केवल उसकी बात को सुनें बल्कि जो उसके विचारों को भी गम्भीरता से लें। इसका मतलब यह नहीं कि शिक्षक उसकी बात इसलिए सुनें ताकि बाद में उस पर अपना वर्चस्व कायम करने के लिए वे उसके विचारों की धज्जियाँ उड़ा दें। इस मामले में सुकरात का तर्क-वितर्क का तरीका भी बच्चों के लिए बेईमान और घातक साबित होगा – जो शायद सुकरात का तरीका नहीं था और जिसे शायद गलत नाम दिया गया है। जिन बुद्धिमान बच्चों को इस तार्किक दाँव-पेंच का अभ्यास नहीं होता उन्हें मूर्ख वयस्क भी इस वाद-विवाद में आसानी से हरा देते हैं या उन्हें तार्किक उलझनों और मुश्किलों में फँसा देते हैं। जो बच्चे "शब्दों" के इस खेल में हार जाते हैं वे या तो कुछ समय के बाद खेलना ही बन्द कर देंगे या फिर वयस्कों द्वारा बनाए नियमों के अनुसार खेलेंगे। हमें जिस बात को पहचानने की ज़रूरत है वह इससे काफी भिन्न है। वह यह कि शब्दों का उपयोग करते समय बच्चा उन लोगों से ही बात करना चाहता है जिन पर वह विश्वास करता है और जिन तक वह पहुँचना चाहता है। इसी तरीके के उपयोग से ही कोई छात्र शब्दों का बेहतर इस्तेमाल सीख पाएगा। यह ज़रूर है कि इस बिन्दु

से शुरुआत के बाद समय-समय पर छात्र को कुछ उपयोगी तकनीकों का ज्ञान दिया जा सकता है। परन्तु यह आवश्यक है कि हम इसी बिन्दु से शुरुआत करें, नहीं तो हम कभी भी प्रगति नहीं कर पाएँगे।

एक अन्तिम प्रश्न। इससे क्या फर्क पड़ेगा? इससे भी बड़ा प्रश्न यह है कि अगर हमारे गरीब परिवारों के बच्चे, खासकर हमारे गरीब नीग्रो परिवारों के बच्चे, अच्छी तरह से बोलना और लिखना सीख भी गए तो उससे क्या फर्क पड़ेगा? क्या हमें उन्हें ऐसी कुशलताओं का प्रशिक्षण देने के लिए पूरी कोशिश नहीं करनी चाहिए जिनके चलते उन्हें नौकरियाँ मिल सकें और वे, चाहे कम ही, गरीबी के बन्धन से मुक्त हो सकें? इसका उत्तर साफ है। केवल नौकरी के प्रशिक्षण से काम नहीं बनेगा। हमारे समाज में यह नितान्त आवश्यक है कि गरीबों के बच्चे, विशेषकर नीग्रो बच्चे, शब्दों का उपयोग कुशलता से कर पाएँ। वे केवल कुछ संकेत और निर्देश भर पढ़ने लायक न बनें, बल्कि उनमें शब्दों द्वारा अन्य लोगों को निर्देश देने की, उनसे काम करवाने की क्षमता भी विकसित हो। क्योंकि हमारा समाज अब एक निर्णायक मोड़ पर खड़ा है। हम या तो पूर्णतः संघटित समाज की ओर बढ़ सकते हैं जहाँ पर कोई रंग-भेद न हो और लोगों को उनकी चमड़ी के रंग के आधार पर नहीं परखा जाए, या फिर हम पूरे मन से और बिना किसी शर्म के नात्सी जर्मनी के फासीवादी समाज, या वर्तमान में दक्षिण अफ्रीका के नस्लवादी समाज की ओर अग्रसर हो सकते हैं। संक्षेप में यह कि अमरीका के श्वेत रंगभेद को त्याग दें, नहीं तो जल्द ही हमारे समाज की बची-खुची इंसानियत भी खत्म हो जाएगी। इस काम में जो लोग हमारी मदद कर सकते हैं वे हैं पढ़े-लिखे नीग्रो लोग जिन्होंने रंगभेद की प्रताड़ना को झेला है और जो हमें उसके प्रभावों के बारे में स्पष्ट रूप से बता सकते हैं। यह सही है कि आज हमारे बीच कुछ नीग्रो प्रतिनिधि हैं, पर वे बहुत कम हैं — बहुत कम और बहुत दूर। जो बातें हमें बाल्डविन, किंग, कारमाइकिल जैसे चन्द लोग बताते हैं, वे बातें अगर हज़ारों, लाखों नीग्रो हमें बताएँ तो बेहतर होगा। अगर बहुत-से नीग्रो एक-साथ बोलेंगे तो उनकी एक सामूहिक आवाज़ होगी जो शायद हमारे भीतर छुपी हुई रंगभेद की गहरी भावनाओं को, जिनके बारे में हम बात भी नहीं करते, जड़ से उखाड़ने में सहायक होगी। तब हम नीग्रो लोगों के दर्द के साथ-साथ अपनी ज़िम्मेदारियों को भी समझेंगे। तब हम यह नहीं मानेंगे कि वे हमसे भिन्न हैं, निम्न हैं, घृणा-योग्य हैं, या यहाँ तक कि डरावने हैं। पढ़ाई करने के अलावा नीग्रो लोग अपने साथ अन्य गरीब और उपेक्षित तबकों को भी

संगठित करके एक राजनैतिक बल के रूप में उभर सकते हैं और हमारे समाज में कुछ आवश्यक बुनियादी परिवर्तन ला सकते हैं जिससे, पॉल गुडमैन के शब्दों में, हमारा समाज "महान" नहीं, पर सभ्य बनेगा जिसमें सभी लोग घृणा, भय और अपराध भाव के बिना रह पाएँगे।

— 1967

भविष्य के लिए शिक्षा

मेरी राय में मैं उसके बारे में लिख रहा हूँ जो होना चाहिए, न कि जो होगा। हमें हमेशा एक सुन्दर भविष्य की उम्मीद करनी चाहिए। लेकिन फिलहाल ऐसा नहीं लगता कि मनुष्य इतना विवेकशील, दूरदर्शी, दानी, और विश्वसनीय है कि वह अपने आपको खुद के बनाए दलदल में से उबार सके; दलदल जिसे वह अभी भी बनाता जा रहा है।

दूसरा, भविष्य के बारे में कुछ कह पाना बड़ा जोखिम भरा काम है, लेकिन फिर भी मैंने उसके बारे में लिखने की हिम्मत जुटाई है। द्वितीय महायुद्ध के दौरान हमें बार-बार बताया गया था कि युद्ध खत्म होने के बाद प्रत्येक अच्छे, धनी अमरीकी के पिछवाड़े में एक हेलीकॉप्टर होगा जिसमें वह अपनी मर्ज़ी के मुताबिक जहाँ चाहे जा सकेगा। ऐसा हुआ नहीं, और न ही ऐसा होगा। इसी तरह कई और भविष्यवाणियाँ भी गलत साबित हुई हैं।

तीसरा, मैं भविष्य की समस्याओं के बारे में इस तरह से लिखूँगा जैसे कि वे एक-दूसरे से अलग हैं, आपस में जुड़ी हुई नहीं हैं। मैं उन्हें एक क्रम में एक-एक कर उठाऊँगा, जबकि वास्तव में वे आपस में बँधी हुई हैं, एक ही चीज़ हैं। उदाहरण के लिए, मैं सबसे पहले काम से सम्बन्धित समस्या का ज़िक्र इस तरह से करूँगा जैसे कि काम का नस्लवाद और शान्ति से कुछ लेना-देना ही न हो। जबकि असलियत यह है कि आजकल नौकरियाँ इतनी कम, अनिश्चित और उबाऊ हैं कि काम को लेकर ही लोगों में इतनी चिन्ता और रोष पैदा हो जाएगा कि नस्लवाद और शान्ति की समस्याओं का निदान और भी मुश्किल हो जाएगा। इसी तरह, नस्लवाद के कारण आबादी की समस्या भी और जटिल हो जाती है। दुनिया के बहुत से हिस्सों में धनी पश्चिम द्वारा गरीब लोगों को जन्म-दर कम करने में मदद देने की कोशिशें, जिनसे उन्हें फायदा ही होगा, गोरे लोगों द्वारा काले-भूरे लोगों की संख्या पर अंकुश लगाने और इस प्रकार उन्हें नियंत्रण में रखने की साज़िश के रूप में देखी जाती हैं, और इसलिए उनका विरोध किया जाता है।

इसी तरह, जब तक हम वियतनाम में अपनी सफलता को लाशों की गिनती से नापेंगे तब तक हम गरीब देशों को इस बात के लिए दोषी नहीं ठहरा सकते कि वे अपनी जनसंख्या बढ़ाना चाहते हैं। उनके जीवन में हमारे हिंसक हस्तक्षेप से उन्हें लग सकता है कि उनके पास हमसे बचने का यही एक तरीका है।

इस प्रकार के सैकड़ों अन्य अन्तःसम्बन्धों को ढूँढा जा सकता है। हमें जो छोटी-छोटी समस्याएँ दिखाई पड़ती हैं वे दरअसल एक बड़ी समस्या का अंश हैं। दुर्भाग्य से यह कह पाना मुश्किल है कि बड़ी समस्या क्या है। ऐसा करने के लिए हमें छोटी समस्याओं के बारे में बात करनी होगी।

हम उनकी सूची कैसे बनाएँ? शायद सबसे बढ़िया तरीका यही है कि पहले उन समस्याओं को गिना जाए जो पूरे विश्व को अंगीकार करती हैं और उससे सम्बन्ध रखती हैं : शान्ति और नस्लवाद। इसके बाद वे समस्याएँ जो विशेष तौर पर हमारे अपने समाज को प्रभावित करती हैंः काम और आराम, कचरा और पर्यावरण, एवं स्वतंत्रता। कुछ को ऐसा लग सकता है कि मैं यहाँ अपने मूल विषय से भटक गया हूँ। शिक्षा पर चर्चा के समय हम भीड़ वाली कक्षाओं, शिक्षकों की कमी, पुरानी इमारतों, आर्थिक सहायता देने के पुराने पड़ गए तरीकों, शैक्षणिक सत्रों

और शैक्षिक तकनीकों के प्रभाव आदि की बातें करते हैं। मैंने इन सब बातों को अलग रख दिया है क्योंकि मेरी राय में ये समस्याएँ शिक्षा की नहीं, शैक्षिक संस्थाओं की हैं। ये सब चीज़ें मात्र साधन हैं, उद्देश्य नहीं। हमारे सामने यह समस्या नहीं कि स्कूल कैसे काम करें, बल्कि यह कि उनका काम क्या है, कि शिक्षा का हमारे समय की बड़ी समस्याओं और मुद्दों से क्या सम्बन्ध है।

शान्ति

हम इस बात में ज़्यादा विश्वास करने लगे हैं कि शान्ति बनाए रखने के लिए, या कम से कम आणविक युद्ध टालने या उससे बचने के लिए हमें आणविक गतिरोध पैदा करना होगा या "आतंक का सन्तुलन" बरकरार रखना होगा। और यह सही है कि इस गतिरोध ने "काम किया है", उससे कहीं ज़्यादा जिसकी अधिकतर लोग, निश्चित ही शान्ति के अधिकतर कार्यकर्ता, आशा करते थे। परन्तु इस पर हमेशा के लिए भरोसा करना एक खतरनाक गलती होगी। हमें दुनिया को चलाने के अपने तरीकों में कुछ बुनियादी परिवर्तन लाने होंगे जिससे कि हम उसकी समस्याओं और उसमें मौजूद गैरबराबरी से निबट सकें। इसके तीन कारण हैं। पहला यह है कि तकनीकी उन्नति से यह गतिरोध कभी भी खत्म हो सकता है। दूसरे कारण को बहुत बार दोहराया गया है : जैसे-जैसे अन्य देशों के पास आणविक हथियार और प्रक्षेपक आएँगे वैसे-वैसे आणविक गतिरोध अस्थिर होता जाएगा। हम यह निश्चितता से नहीं कह सकते कि किसी दिन चीन, भारत, पाकिस्तान, इज़राइल और अरब देश, या काले और गोरे लोगों द्वारा शासित अफ्रीका के देश अपने आणविक हथियारों का रूस जैसी सावधानी से ही उपयोग करेंगे। तीसरे कारण को कभी व्यक्त ही नहीं किया गया है। अमरीका और रूस को युद्ध से दूर रखने का पूरा श्रेय आणविक गतिरोध को दिया जाता है। परन्तु सच्चाई यह है कि ऐसा कोई मुद्दा ही नहीं है, न ही कभी था, जिस पर ये दोनों देश आपस में लड़ें। शुरू से ही इन दोनों देशों के बीच एक अवास्तविक लड़ाई थी। एक ऐसी लड़ाई जो असली मुद्दों पर आधारित न होकर इस बात पर आधारित थी कि दोनों देशों के नेता एक-दूसरे पर शक करते थे और एक-दूसरे से डरते थे।

द्वितीय महायुद्ध के कुछ देर बाद *रीडर्स डायजेस्ट* पत्रिका में छपा एक लेख

मुझे याद है। उसका शीर्षक कुछ इस प्रकार था, "अमरीका और रूस के बीच शान्ति क्यों बनी रहेगी।" लेख के अनुसार दोनों देशों के पास ऐसा कुछ नहीं था, ज़मीन या साधन, जिसकी दूसरे देश को ज़रूरत थी या वह उसे चाहता था। दोनों देशों की सीमाएँ अलग-अलग थीं जिससे लड़ाई की सम्भावना कम हो जाती है। दोनों देशों के हित और, अधिकतर मामलों में, उनके उद्देश्य और नज़रिए एक जैसे ज़्यादा थे और उनमें आपसी विरोध कम था। यह लेख सही था। युद्ध की समस्या भीषण आवेग से पैदा हुई और आवेग के कम होने के बाद उसे नियंत्रण में रखा जा सका।

तीसरे महायुद्ध का खतरा कहीं और है। यह खतरा समय के गुज़रने के साथ कम नहीं होगा। यह खतरा उन लोगों से पैदा नहीं होता जो थोड़ी देर के लिए एक-दूसरे से रूठ जाते हैं और एक-दूसरे से डरने लगते हैं। यह खतरा काल्पनिक कारणों से नहीं, दुनिया में असली गैरबराबरी और समस्याओं के कारण है। समय के साथ ये समस्याएँ और भी विकट होती जाएँगी। क्योंकि 1969 की दुनिया, काफी हद तक, दो दुनियाएँ हैं। विश्व के अधिकांश लोग एक दुनिया में रहते हैं। वे गरीब और (जैसे कि हम कहते हैं) अश्वेत हैं, और हर साल और गरीब होते जाते हैं। दूसरी दुनिया में बाकी लोग रहते हैं, धनी और गोरे लोग जो संख्या में कम हैं। यह अपने आप में दोनों दुनियाओं के बीच मनमुटाव का एक अहम कारण हो सकता है, परन्तु इसके अलावा और भी कारण हैं। हमने अपनी अधिकांश दौलत को बल या छल के ज़रिए अश्वेत लोगों से छीना है; इस धन को अब वे वापिस माँगने लगे हैं, और हम इसे वापिस देने को तैयार नहीं हैं। दूसरी ओर हम दुनिया के संसाधनों को साल-दर-साल अधिक तेज़ी से निगल रहे हैं। हमारे धनी होते जाने के कारण दूसरे लोग गरीब हो रहे हैं। अन्त में, और यह सबसे महत्वपूर्ण बात है, धनी, गोरे लोग नस्लवादी हैं। अधिकांश गोरे अलग-अलग मात्रा में अश्वेत लोगों से घृणा करते हैं, उनसे डरते हैं, और उनका तिरस्कार करते हैं।

स्पष्ट ही यह ऐसी स्थिति नहीं जो समय के साथ बेहतर हो जाएगी। यथास्थिति भी नहीं बनी रहेगी। अगर सभी अश्वेत देश नए अफ्रीकी देशों की तरह ही गरीब और असंगठित होते तो हम उन्हें कुछ समय तक, शायद बहुत समय तक, गरीब, अशिक्षित और सत्ताहीन बनाए रखते। जैसे दक्षिण अफ्रीका के श्वेतों ने वहाँ के काले लोगों को दबाकर रखा हुआ है, जो कि संख्या में उनसे कहीं ज़्यादा हैं। पर ऐसा है नहीं। दूसरी तरफ

चीन है और चीन के अलावा अन्य कई देश हैं जिनके पास किसी दिन अपने आणविक और शायद रासायनिक और जैविक हथियार होंगे। इससे पूरी दुनिया में युद्ध की एक बड़ी दौड़ छिड़ जाने का खतरा है। इसकी परिणति या तो किसी भयानक आणविक विस्फोट में होगी या फिर लम्बे अर्से तक चलने वाले वियतनाम युद्ध जैसी होगी।

इससे बचने के लिए और स्थायी शान्ति स्थापित करने के लिए हम उसी तरह नहीं चलते रह सकते जैसे अब चल रहे हैं, अपने भाग्य और आणविक गतिरोध पर भरोसा करते हुए। हमें नस्लवाद को खत्म करना होगा, दुनिया के संसाधनों को सही तरीके से बाँटना होगा और गरीबी खत्म करने के लिए गम्भीर कदम उठाने होंगे। हमें आणविक एवं तबाही के अन्य हथियारों को नष्ट करना होगा, और राष्ट्रीय समस्याओं एवं अन्तर्राष्ट्रीय मतभेदों के समाधान के लिए ज़्यादा न्यायसंगत और सभ्य तरीकों को खोजना होगा और उन्हें लागू करना होगा। इन कार्यों को पूरा करने में काफी वक्त लगेगा और मेरा यह मतलब नहीं कि विश्व शान्ति को इनके पूरे होने तक इन्तज़ार करना चाहिए। लेकिन इन कार्यों को करने का काम गम्भीरता से शुरू होना चाहिए।

इस कार्य का शिक्षा से क्या लेना-देना है? यह कहना आसान लगता है कि हमें अपने स्कूलों के ज़रिए ऐसी पीढ़ियों को तैयार करना है जिनमें से निकले नागरिकों में इस कार्य को करने की समझ हो और उनमें से कुछ ऐसे विशेषज्ञ निकलें जो इस काम को कुशलता से करें। परन्तु यह तो इस कार्य का सबसे आसान भाग है; असली काम तो इससे बिल्कुल भिन्न है। उसका विषय-वस्तु, पाठ्यक्रम या सीखने से कुछ लेना-देना नहीं है; उसका सम्बन्ध इंसानों के दिल और उनकी आत्मा से है। एक बार "शिक्षा और शान्ति" पर निबन्ध में मैंने लिखा था कि:

- शान्ति के हमारे तमाम प्रयास तब तक विफल होते रहेंगे जब तक हम युद्ध के मूल कारणों को नहीं समझेंगे...। युद्ध का कारण वे लोग हैं जो अपने जीवन में रोज़मर्रा इकट्ठा हुई निराशा, जलन, भय, गुस्से, नफरत आदि के लिए अन्य लोगों और देशों को दोषी ठहराकर उन्हें बली का बकरा बनाते हैं। जो आदमी अपने काम, अपने मालिक, अपने पड़ोसियों, और यहाँ तक कि अपने आप से नफरत करता होगा वह अपनी स्वतंत्रता, कुशलता, आत्मसम्मान और गुणवत्ता के अभाव के लिए अन्य लोगों को कष्ट पहुँचाने और मारने का काम करेगा।

इस समय की सबसे बड़ी चुनौती बच्चों को ऐसे विकसित करना है कि वे वयस्क बनने पर किसी को नुकसान पहुँचाना नहीं चाहें। हमें इस बात को स्वीकार करना चाहिए कि परम्परागत शिक्षा ने इस समस्या को हल करना तो दूर, इसे हल करने की कोशिश भी कभी नहीं की है। बल्कि उसने हमेशा इसकी विपरीत दिशा में ही काम किया है। परम्परागत शिक्षा का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य हमेशा बच्चों को ऐसे वयस्क बनाने का रहा है जो अपने नेताओं के कहने पर अन्य लोगों को अपना दुश्मन मानें, उनसे नफरत करें और उन्हें मारने की कोशिश करें। कुछ समाज ऐसे हैं जहाँ बच्चों में शुरू से ही नफरत, दुश्मनी, घृणा और युद्ध के बीज नहीं बोए जाते, जहाँ हरेक अजनबी को दुश्मन नहीं समझा जाता। परन्तु यहाँ पर भी बच्चों को यह नैतिक शिक्षा नहीं दी जाती कि जैसा बर्ताव हम अपने पड़ोसियों के साथ करें वैसा ही बर्ताव हमें सम्पूर्ण मानवता के साथ करना चाहिए।

असल में जिस भी नैतिक संहिता के साथ लोग जीते हैं उसमें हमेशा बच निकलने के लिए एक नियम होता है, जिसका उल्लेख बहुत स्पष्ट रूप में नहीं होता। एक तरह से यह नैतिक संहिता हमारे दस धर्मादेशों की तरह ही है जो कहते हैं किः तुम किसी को जान से नहीं मारोगे, तुम चोरी नहीं करोगे, तुम किसी की चीज़ को खराब नीयत से नहीं देखोगे, तुम झूठी गवाही नहीं दोगे, आदि। परन्तु इन धर्मादेशों में आगे एक बात और जुड़ी होती है, कि ये नियम-कानून केवल अपने ही लोगों पर, अपनी नस्ल, अपने राज्य, अपने धर्म के लोगों पर ही लागू होंगे। जब हम अन्य लोगों, अजनबियों की, दूसरे धर्म के लोगों की, नास्तिकों की बात करेंगे तब आप इस आचार-संहिता को भूलकर जो चाहें करने को स्वतंत्र होंगे। तब झूठ, चोरी, धोखाधड़ी, कत्ल, तोड़फोड़, अत्याचार सब माफ होंगे; बल्कि आप जितना अधिक कहर ढाएँगे उतना ही अच्छा होगा। [जब मैंने यह लिखा था उस समय तक हमने वियतनाम के गाँवों के मर्दों, औरतों और बच्चों पर नापाम और सफेद फॉस्फोरस जैसे रसायन फेंकना नहीं शुरू किया था। उस समय मुझे यह नहीं सूझा था कि हम वाहियाती की इस गर्त तक गिर जाएँगे।]

इंसानी समाज को अब तक मनुष्य की दुष्टता के स्रोत से जूझने का अवसर नहीं मिला था, जो स्रोत दुष्कर्म करने की इच्छा है।.... एक सीमित दायरे में आचार-संहिताओं ने ठीक-ठाक काम इसलिए किया क्योंकि दुनिया में हमेशा ऐसे लोग थे जिनसे आप जी भरकर नफरत कर सकते थे और जिन्हें आप जो चाहें कष्ट पहुँचा सकते थे। और मनुष्य समाज आचार-संहिता से बच निकलने की सुविधा इसलिए जुटा पाया, वह

दुश्मनों की बर्बादी — जिसके लिए आचार-संहिता उसे स्वीकृति देती थी के बावजूद स्वयं को इसलिए बचा पाया, क्योंकि दुश्मनों को मारने के लिए मनुष्य के पास तब बहुत सीमित साधन थे और मनुष्य जाति अपना अधिकांश समय और ऊर्जा जीवनयापन के साधनों को जुगाड़ने में ही खर्च करती थी।...

पर अब यह सब कुछ बदल चुका है। ...हज़ारों, लाखों, करोड़ों लोगों को कत्ल करने, पृथ्वी पर सब जीवों को खत्म करने के साधन अब हाथ में हैं। और ये साधन बहुत महँगे भी नहीं हैं। जो आदमी अपनी ज़िन्दगी की कोई कद्र नहीं करता, और इसलिए जिसके मन में किसी भी जीवन का कोई मूल्य नहीं होता, हो सकता है कि वह अपने पिछवाड़े में बम न बना पाए। परन्तु वह वोट से, या उसके बिना भी, अपनी सरकार को बम बनाने और उसका उपयोग करने के लिए उकसा सकता है। असल में हमें मनुष्य जाति को पूरी तरह तबाह करने के लिए इससे अधिक इच्छा शक्ति की आवश्यकता भी नहीं है। इन सभी घातक बमों और हथियारों को नष्ट करने और उनका दुबारा कभी भी निर्माण नहीं होने देने के लिए बहुत से लोगों को सामूहिक और अथक प्रयास करना होगा। और यह प्रयास तभी सम्भव हो पाएगा जब वे खतरा उठाने की, दूसरों में विश्वास करने की और अपने आप को बलिदान कर देने की इच्छा से प्रेरित हों, ऐसी इच्छा जिसकी हमने कभी कल्पना भी नहीं की। जो लोग दृढ़ निश्चय से इसमें सक्रिय भागीदारी निभाने के लिए तैयार नहीं होंगे, वे इस काम में रोड़ा बनेंगे और धीरे-धीरे पूरी मानवता और पूरा संसार मृत्यु की कगार पर आ खड़ा होगा।

इस पृष्ठभूमि में और इस रोशनी में हम समरहिल के संस्थापक ए. एस. नील की दलील पर नज़र डालेंगे। नील के अनुसार शिक्षा का सबसे महत्वपूर्ण कार्य है ऐसे लोगों को बनाना जो अपने जीवन से खुश हों। इस दलील को हम एक ओछा और भावनात्मक मज़ाक न समझकर बहुत गम्भीरता से लें, क्योंकि यह सटीक और वज़नी है। मनुष्यता को जीवित रखने के लिए हमें ऐसे लोगों को बनाना सीखना होगा जो अपने जीवन को सम्पूर्ण रूप में जीना चाहते हों, उसे सार्थकता और खुशहाली से भरना चाहते हों। यानी हम घर में और स्कूल में बच्चों को स्वतंत्रता, आत्मसम्मान और आदर दें, जो चीज़ें अभी उनके पास नहीं हैं। •

दूसरे शब्दों में अगर हम शान्ति के लिए प्रभावशाली ढंग से काम करना चाहते हैं तो उसके लिए हमें किसी विशेष तरह की सीख की ज़रूरत नहीं है, बल्कि दिल और दिमाग के कुछ गुणों की। धनी देश हर वर्ष गरीब देशों

के विकास के लिए उनकी मदद में कमी करते जा रहे हैं, इसलिए नहीं कि उनका ज्ञान काफी नहीं है, बल्कि इसलिए कि उन्हें इसकी परवाह ही नहीं है। हमारे पास तकनीकों और साधनों की कमी नहीं है, बल्कि संवेदना और हमदर्दी का अभाव है। और इन भावनाओं का स्कूल में विकास नहीं होता है। हम बच्चों को डरा-धमकाकर, सज़ा देकर, या उन्हें यह बताकर कि वे कितने महत्वपूर्ण हैं, अन्य बच्चों के साथ अपनी चीज़ें बाँटने को कह सकते हैं। परन्तु इससे बच्चों में औरों के प्रति सहानभूति और उदारता पैदा नहीं होगी। स्कूलों में स्वतंत्रता, आदर और विश्वास का वातावरण पैदा करके ही हम बच्चों में सच्ची दयालुता और सहानभूति विकसित कर पाएँगे।

नस्लवाद

नस्लवाद, जैसा कि रूस और इंग्लैण्ड के उदाहरण से हम देख सकते हैं, दुनिया के कई धनी और गोरे देशों के लिए एक गम्भीर समस्या और खतरा है। शायद ही दुनिया का कोई ऐसा गोरा देश हो जहाँ यह समस्या मौजूद न हो। जहाँ ज़्यादा अश्वेत लोग हैं वहाँ यह समस्या विकराल रूप धारण कर लेती है। अमरीका में विशेष तौर पर यह समस्या काफी गम्भीर है, इसलिए नहीं कि हमारा देश सबसे अधिक नस्लवादी देश है — जो कि वह नहीं है — बल्कि इसलिए कि हमारा देश सबसे धनी और शक्तिशाली है। प्रश्न यह है कि हम नस्लवाद का अन्त करने के लिए शिक्षा के क्षेत्र में क्या करें? सुप्रीम कोर्ट, नस्लवाद का विरोध करने वाले सभी गोरों और लगभग सभी नीग्रो लोगों की एक उत्तर पर सहमति हैः स्कूलों को संघटित करें। मैं कई अन्य लोगों की अपेक्षा इस काम को तत्काल होते देखने का इच्छुक हूँ। लेकिन हो सकता है कि मेरे कारण अन्य लोगों से कुछ भिन्न हों।

अगर आप संघटित शिक्षा में विश्वास करने वाले किसी भी व्यक्ति से पूछेंगे कि स्कूलों में संघटन क्यों होना चाहिए तो आपको यह जवाब मिलेगा, "क्योंकि उसके बिना नीग्रो बच्चों को कभी समान स्तर की शिक्षा नहीं मिल पाएगी।" मुझे इस कारण के सबसे महत्वपूर्ण होने पर शक है, और मुझे यह तर्क सच भी नहीं लगता। हमें संघटन सबसे पहले अपने श्वेत बच्चों के लिए चाहिए न कि नीग्रो बच्चों के लिए। नस्लवाद, कम से कम इस देश में तो, और कम से कम अभी तक तो, गोरे लोगों की बीमारी है, नीग्रो लोगों की नहीं। अगर इस बीमारी को हमने पनपने दिया

तो यह हमारी स्वतंत्रता को नष्ट कर देगी, और हमें नस्लवाद के युद्ध में झोंककर शायद हमारे जीवन को भी। इसलिए हमें इस बीमारी का इलाज करना चाहिए। इसका शायद एक ही तरीका है। हम एक-दो पीढ़ियों को इस प्रकार की शिक्षा दें जो नस्लवाद से मुक्त हो। इसके लिए यह बेहद ज़रूरी है कि सभी श्वेत बच्चे बड़े होने के साथ-साथ लगातार नीग्रो बच्चों के सम्पर्क में आएँ। अगर हम इस दृष्टिकोण से देखें तो ऐसा नहीं लगता कि असली समस्या बहुत अधिक नीग्रो बच्चे होने की है; शायद असली समस्या बहुत कम नीग्रो बच्चे होने की है।

परन्तु मुझे इस बात पर पूरा यकीन नहीं है कि ज़्यादातर नीग्रो बच्चों के लिए संघटित शिक्षा उपयुक्त शिक्षा होगी। मुझे लगता है बहुत लम्बे अर्से से अमरीका में गोरे लोगों और नीग्रो लोगों के बीच के रिश्ते उस तरह के रहे हैं जैसे एक धनी औपनिवेशिक देश और एक गरीब, अविकसित, शोषित उपनिवेश के बीच होते हैं। अन्तर केवल इतना है कि यहाँ पर दो अलग देश नहीं हैं। यहाँ श्वेत और नीग्रो लोग एक ही देश में रह रहे हैं। कई वर्षों से, खास तौर पर हाल के वर्षों में, नीग्रो लोग प्रयासरत रहे हैं कि गोरे लोग उन्हें उपनिवेश से पलायन करके मातृ-देश में जाने दें, कि वे उन्हें अश्वेत अमरीका छोड़कर श्वेत अमरीका में जाने दें। परन्तु यह प्रयास आम तौर पर असफल रहा है। नीग्रो लोगों को अब साफ तौर पर लग रहा है कि उन्हें उनके अविकसित देश को छोड़ने नहीं दिया जाएगा। उनके पास तब एक ही विकल्प बचता है कि वे अपने देश का विकास करें। परन्तु संघटित स्कूलों में नीग्रो बच्चों को जिस प्रकार की शिक्षा मिलेगी उसके द्वारा वे इस कार्य को पूरा कर पाएँगे इस बारे में शक है।

मुझे एक उदाहरण याद आता है। द्वितीय महायुद्ध के बाद विश्व राजनीति पर ढेरों पुस्तकें छपीं। उनमें से अधिकांश पुस्तकों को बदलते घटनाक्रमों ने फौरन गलत साबित कर दिया। परन्तु एक पुस्तक ने उस काल को बेहद सुन्दर ढंग से चित्रित किया। इस पुस्तक को एडमंड टेलर ने लिखा है और इसका नाम है *रिचर बाई एशिया*। शान्ति चाहने वाले हरेक इंसान को इसे पढ़ना चाहिए। इसके एक यादगार अंश में टेलर एक नौजवान भारतीय डॉक्टर के साथ हुए वार्तालाप को लिखते हैं। इस डॉक्टर ने कहा कि पश्चिम में मिली ट्रेनिंग ने उसके लिए भारत के लोगों की सेवा करना असम्भव बना दिया था। भारत जैसा गरीब देश पश्चिमी दवाओं की कीमत का बोझ नहीं उठा सकता था। हाँ, अश्वेत अमरीका भारत जितना गरीब या अविकसित नहीं है, परन्तु फिर भी वहाँ के गरीब उन महँगी

दवाओं को खरीदने में असमर्थ हैं जिन्हें गोरे अमरीकी आसानी से खरीदते हैं। उन्हें ऐसे सामान्य डॉक्टरों की ज़रूरत है जो घर-घर जाकर रोगियों का इलाज करें और उनसे बहुत ऊँची फीस न वसूलें।

अमरीका के शहरों और गाँवों में अधिकांश काले लोग बस्तियों और झुग्गी-झोंपड़ियों में रहते हैं। इन बस्तियों को कौन ठीक करेगा, रहने लायक बनाएगा? साफ तौर पर, गोरे लोग इसके लिए धन नहीं देंगे, और अश्वेतों के पास वैसे ही धन का अभाव है। इसलिए अन्य अविकसित देशों के लोगों की तरह ही नीग्रो लोगों को भी तमाम कार्यों, जैसे इमारतें बनाना, व्यापार करना और बैंक चलाना, खुद को और अपने बच्चों को शिक्षा देना आदि को कम कीमत में खुद करना सीखना होगा। क्या वे यह कर पाएँगे? क्या वे श्वेत अमरीकी स्कूलों में ये सारी कुशलताएँ सीख पाएँगे? मुझे यह सम्भव नहीं लगता। शायद कुछ थोड़े से नीग्रो शहरों के बाहरी इलाकों में मकान खरीद लें। परन्तु श्वेत लोग इस पर भी आपत्ति उठाएँगे। परन्तु ऐसा होने से बाकी नीग्रो लोग वहीं के वहीं अकेले, पहले की तरह नेतृत्वविहीन रह जाएँगे। संक्षेप में, श्वेत स्कूल बाहर से आए चन्द नीग्रो लोगों को अवश्य प्रशिक्षित करेंगे, परन्तु ये लोग नेतृत्व का भार नहीं उठाएँगे।

[मुझे लगने लगा है, क्योंकि और कोई विकल्प नहीं है, कि स्कूलों और समुदायों को संघनित करना हमारे समाज में नस्लवाद की समस्या का अन्त करने के लिए ज़रूरी नहीं है। मेरी राय में संघटन अब एक असम्भव और अनुपयोगी उपाय है। कई और लोगों को भी ऐसा लगता है। अल्पकाल में उसके उद्देश्य भी शायद सही नहीं हैं। अपने हितों को ध्यान में रखते हुए नीग्रो लोग संघटन को नहीं चाहते हैं। अधिकांश गोरे लोग संघटन को बर्दाश्त नहीं करेंगे और उसे बन्द करने के लिए कोई भी जुर्म करने को तैयार होंगे।

हमें एक बिल्कुल अलग चीज़ के लिए काम करना चाहिए। शुरू का "मेल्टिंग पॉट" (पिघलती कड़ाही — विभिन्न संस्कृतियों के मेलजोल से बनी जीवनशैली) वाला अमरीकी आदर्श *रिचर बाई एशिया* के लेखक टेलर के अनुसार धीरे-धीरे विश्व स्तर पर अब "सांस्कृतिक उपनिवेशवाद" बन गया है। टेलर ने ठीक ही लिखा है कि विश्व में तब तक शान्ति नहीं हो सकती जब तक पश्चिम के देश अपने आपको "सांस्कृतिक उपनिवेशवाद" से मुक्त नहीं करते और भिन्न-भिन्न संस्कृतियों के साथ सौहार्दपूर्ण ढंग

से जीना नहीं सीखते। ऐसा करना अमरीका में शान्ति, स्वतंत्रता और न्याय के लिए अब अनिवार्य हो गया है, यहाँ तक कि दक्षिणपन्थियों की प्रिय "कानून व्यवस्था" के लिए भी। यहाँ पर अब अमरीकी जीवन पद्धति की बात करना ही गलत होगा क्योंकि बहुत कम लोगों को ही यह उपलब्ध है। अब हमें अमरीकी जीवन *पद्धतियों* की बात करनी होगी, जिनमें एक ही देश में संस्कृतियाँ साथ-साथ एक-दूसरे का आदर करते हुए फलेंगी-फूलेंगी और जहाँ कानून व्यवस्था सभी को समान सुरक्षा प्रदान करेगी। ये अलग-अलग संस्कृतियाँ बाद में कभी एक-दूसरे में मिल जाएँगी या नहीं, यह कहना मेरे लिए मुश्किल होगा। मुझे अपने जीवनकाल में ऐसा होना सम्भव नहीं लगता, और न ही मैं निश्चित तौर पर कह सकता हूँ कि ऐसा होना ठीक ही होगा। वैसे भी, यह मुख्य प्रश्न नहीं है। अगर हम एक बहुसांस्कृतिक समाज बना सकें जिसमें कानून काले और अन्य लोगों की संस्कृतियों और जीवन पद्धतियों का समान रूप से आदर करे, तो यह काम ही हमें बहुत समय तक व्यस्त रखेगा।

मेरे विचार में यह बात हमेशा की तरह अब भी उचित है कि जो काले लोग अपने बच्चों को गोरे बच्चों के साथ स्कूल भेजना चाहते हैं उन्हें ऐसा करने देना चाहिए और गोरे समुदाय को उनके इस अधिकार की सुरक्षा करनी चाहिए। पर एक बात इससे भी महत्वपूर्ण है। अधिकतर अश्वेत लोगों के बच्चे अलग से बने विशेष स्कूलों में लम्बे समय तक जाएँगे, इसलिए उन्हें ही इन स्कूलों को नियंत्रित करना और चलाना चाहिए। क्योंकि हमने बहुमत से श्वेत अमरीका में काले लोगों को घुसने न देने का निर्णय लिया है, और उन्हें उनके अपने ही देश में बन्द कर दिया है, इसलिए यह न्यायसंगत ही होगा कि हम तीन सौ साल पुराने इस देश, इस उपनिवेश का शोषण बन्द कर दें और उसे अपनी ज़रूरतों के हिसाब से विकसित होने दें।]

— 1969

काम और आराम

मैं यहाँ काम का आम आदमी के सन्दर्भ में उल्लेख कर रहा हूँ : जिसे आप धन कमाने के लिए करते हैं। काम के भविष्य के बारे में दो बातें स्पष्ट हैं। धीरे-धीरे काम कम होता जाएगा; और जो होगा भी वह काम जैसा कम से कम लगेगा। लोग अपने जीवन का औचित्य काम द्वारा ही सिद्ध

करते थे। वे उपयोगी थे इस बात का पहला प्रमाण यह होता था कि उन्हें उपयोग में लाया जाता था, कि कोई उन्हें काम करवाने के लिए पैसे देना उपयोगी मानता था। दूसरा प्रमाण यही होता था कि वे काम करते थे। आजकल बहुत से लोग काम करने के लिए तो तैयार हैं लेकिन उन्हें पैसे देने वाला कोई नहीं है। जो लोग काम करते भी हैं उन्हें भी अपने काम से कोई आत्मसम्मान नहीं मिलता; अगर उन्हें पैसों की ज़रूरत नहीं होती तो वे उस काम को नहीं करते। मशीन चलाने वाला अब सिर्फ मशीन की देखभाल करने वाला बन गया है। पहले एक कुशल कारीगर अपने काम के लिए मशीनों जैसे जटिल औज़ार का इस्तेमाल करता था। अब वह दिनोंदिन मशीन को केवल खुराक देता है। उसे जो चाहिए वह उसे देता है। वह जो चाहती है उसे करता है। जैसे कोई छोटे बच्चे की देखभाल करता है। बच्चे के मुँह में बोतल डालना और जब वह रोए तो उसे थपथपाना। डब्लू. एच. फेरी ने भविष्य के कामकाज की एक बहुत सटीक परिभाषा दी है – रात को चौकीदारी का काम। आदमी तब जटिल से जटिल होती मशीनों की देखभाल करेंगे। सब काम ठीक प्रकार चल रहा है इस बात का प्रमाण यह होगा कि कुछ नहीं हो रहा। जब कभी कुछ गड़बड़ होगी तभी वहाँ खड़े आदमी को कुछ करना होगा। आगे ऐसी गलती न हो यह काम भी कोई दूसरा व्यक्ति देखेगा। ऐसे काम में भला कैसे मज़ा और सन्तोष मिले। (हाल ही में मैं एक मोटरकार बनाने वाले कारखाने के पास से गुज़र रहा था। एक मज़दूर ने जो पहले वहाँ काम करता था मुझे बताया कि वहाँ लगभग 80 प्रतिशत मज़दूर अपने उबाऊ काम से निजात पाने के लिए नियमित रूप से ऐमफेटेमीन्स की गोलियाँ खाते हैं।)

हम इस स्थिति के फैलने की ही उम्मीद कर सकते हैं, कम होने की नहीं। अगर ऐसा होगा तो अधिकांश लोगों को दो तरह की समस्याओं से निबटना होगा : अपने जीवन का औचित्य कैसे सिद्ध करें व उसे सार्थक कैसे बनाएँ, और अपने खाली समय में क्या करें। इन दोनों प्रश्नों का उत्तर एक ही है : ऐसे काम करना जो सच में करने योग्य हों। शिक्षा का एक बेहद महत्वपूर्ण अंग करने योग्य कामों को खोजना होगा। इसलिए स्कूलों को ऐसे स्थान बनना होगा जहाँ बच्चों – और वयस्कों – को बहुत सारी चीज़ें *करने* का समय और अवसर मिले ताकि वे ऐसे काम खोज सकें जो सबसे ज़्यादा करने योग्य हों। मैं यहाँ *करने* पर विशेष बल दे रहा हूँ। आज स्कूलों में बच्चे कुछ *करने* में बहुत ही कम समय बिताते हैं। बच्चे अपना

ज़्यादातर समय या तो जानकारी हासिल करने में बिताते हैं या यह सिद्ध करने में कि उन्होंने वह जानकारी हासिल कर ली है : ऐसा सिद्ध करने के लिए वे उसे वापिस उगलते रहते हैं, और बाद में उसे लिखकर दिखाने में ही समय बिताते हैं। कभी-कभी बच्चे कला, हस्तकला, खेलकूद, नाटक, नाच-गाना भी कर लेते हैं। परन्तु स्कूल बहुत कम बच्चों को ही इनमें से किसी भी विषय पर गम्भीरता से काम करने का समय देता है। जो बच्चे इन चीज़ों को गम्भीरता से सीखना चाहते हैं वे उन्हें स्कूल के बाहर ही सीख सकते हैं और वह भी महँगी फीस देकर। जो माँ-बाप फीस नहीं दे सकते या जो समुदाय इन विशेष संस्थाओं का खर्च नहीं उठा सकते उनके बच्चे इन अनुभवों से वंचित रह जाते हैं। इससे बच्चों के मन और आत्मा में एक गहरा सूनापन उत्पन्न हो जाता है और इसका लाभ मनोरंजन उद्योग के तमाम व्यापारी उठाते हैं। अभी तक किसी तरह काम चल गया है। परन्तु भविष्य में इसके चलने की उम्मीद नहीं है। जिस प्रकार की गम्भीर रुचियों का आनन्द आज समाज का एक छोटा-सा वर्ग उठाता है उसे हमें अधिकांश लोगों के लिए उपलब्ध कराना होगा। तभी लोगों की ज़िन्दगी जीने लायक बन पाएगी।

मैंने कुछ गतिविधियाँ सुझाई हैं। परन्तु उन्हें मेरे सुझावों तक ही सीमित नहीं किया जाए। बहुत से लोग बड़े सन्तोष के साथ न केवल अपने बाग-बगीचे को सुन्दर बनाएँगे बल्कि यदि उन्हें मौका मिले तो वे अपने आसपास के परिवेश में भी खुशी से पेड़-पौधे और फूल लगाएँगे। मुझे अभी भी उस बात को सोचकर खुशी मिलती है जब मैंने अपनी बहन के घर के पास कुछ पेड़ लगाए थे। वह उस घर में केवल एक वर्ष रही। मैं उन पेड़ों को अब भी साल में एक बार जाकर देखता हूँ। परन्तु अगर मैं उन्हें दुबारा कभी न देखूँ तो भी मुझे याद रहेगा कि उनको लगाने की मेहनत और समय एक अच्छे काम पर खर्च हुआ। मुझे मालूम है कि वे पेड़ उस ज़मीन पर लगे हैं जहाँ उनकी बहुत ज़रूरत है।

लेकिन मेरी रुचि कलाओं में ज़्यादा है, और दस्तकारी में भी। केवल इसलिए नहीं कि वे मुझे पसन्द हैं, बल्कि इसलिए भी कि मुझे कला और हस्तकला दोनों में सोचने-विचारने, प्रयास करने, अनुशासन बनाने और विकास करने की बहुत-सी सम्भावनाएँ नज़र आती हैं। ये ऐसे कुएँ नहीं हैं जिनका सारा पानी पीकर आप उन्हें सुखा सकते हैं। इनसे लोग जल्दी थकेंगे नहीं। यह गेंद फेंकने के खेल जैसा नहीं है जिसमें कि पाँच दिनों तक रोज़ आठ घण्टे गेंद फेंकने के बाद कोई पूरी तरह ऊब जाए। इनसे एक

अलग तरह का सन्तोष प्राप्त होगा। जब लोग कोई अच्छा काम करते हैं तो कड़ी मेहनत से उन्हें तत्काल सन्तोष मिलता है, ऐसी मेहनत जो इसलिए की जाती है क्योंकि वह करने योग्य है, न कि किसी दूसरे की जेब में मुनाफा डालने के लिए।

जिन गतिविधियों में लोग कोई धन नहीं कमाते, जिन्हें लोग केवल इसलिए करते हैं क्योंकि उनमें उन्हें मज़ा आता है, उनमें लोग अपनी सम्पूर्ण ऊर्जा और कुशलताओं का उपयोग करते हैं। बड़ी और बेहतर रुचियों से ज़िन्दगी नहीं बनती। काम में चुनौती, उसे बेहतर और सुन्दर तरीके से करने की लगन होनी चाहिए। कोई व्यक्ति बिजली से चलने वाले औज़ारों को खरीदकर उनसे हफ्ते में हर रोज़ पाँच-छह घण्टे खुशी-खुशी किताबें रखने के शेल्फ बना सकता है या फिर पुरानी लकड़ी से लैम्प स्टैण्ड बना सकता है। यह तब ठीक होगा जब उस आदमी का प्रमुख काम या धन्धा इससे अलग होगा। क्योंकि हफ्ते में तीस, चालीस या पचास घण्टे काम करना पर्याप्त नहीं होगा, उससे काम नहीं बनेगा। उसे कुछ ऐसी चीज़ें बनाने की कोशिश करनी होगी जो सच में बहुत सुन्दर हों। उसे किसी चित्रकार की भाँति अपने काम को उत्कृष्ट बनाने का लगातार प्रयास करना होगा, जिस तक वह शायद कभी पहुँच न सके। अगर वह ऐसा नहीं करेगा तो वह जल्दी ही ऊब जाएगा, और जैसा आजकल अक्सर होता है उसके सारे महंगे औज़ार वर्कशाप में पड़े रहेंगे और उनमें ज़ंग लग जाएगी।

ऐसे कई तरीके हैं जिनसे लोग दूसरों की मदद कर सकते हैं। मान लें हमने अपने विवेक से गरीबी को खत्म कर भी दिया, तब भी समाज में बहुत से ऐसे लोग होंगे जिन्हें सहायता की ज़रूरत होगी – बीमार, रोगी, अपंग, वृद्ध और मानसिक रोगों से पीड़ित लोग। अगर हमारे स्कूलों की हालत ऐसी ही रही जैसी वह अब है तो बहुत से लोगों की इन कार्यों को करने में रुचि नहीं होगी। आज स्कूलों में हम ऐसे ही लोगों को विकसित कर रहे हैं जिनका उद्देश्य किसी भी तरीके को अपनाकर जीवन में दूसरों से आगे बढ़ना है। संक्षेप में, स्कूल ऐसे समुदाय बनें जहाँ पर बच्चे भाषणों से नहीं, बल्कि वास्तविक काम करके और जीवन जीकर अन्य लोगों की आवश्यकताओं के प्रति चेतना और सहानुभूति हासिल करें। ऐसे स्कूलों को नियम-कानूनों के ज़रिए बनावटी किस्म के मॉडल बनाकर स्थापित नहीं किया जा सकता। बल्कि वे ऐसे स्कूल हों जिनमें बच्चों में अपने काम के प्रति इतना आदर भाव हो कि वे दूसरों के काम का भी आदर करने

लगें। बच्चे खुद इन स्कूलों को एक ऐसा स्थान बनाने की कोशिश करेंगे जहाँ हर कोई अपना मनपसन्द काम कर सके और उसे बेहतर ढंग से कर सके।

गरीबी, कचरा और पर्यावरण

ये समस्याएँ न केवल आपस में जुड़ी हैं बल्कि इनका अन्य समस्याओं से भी गहरा सम्बन्ध है। इसलिए इनको अलग-अलग करके इनके बारे में बात करना सम्भव न होगा। जिस लालच के कारण पर्यावरण को खतरा है उसी की वजह से गरीबी को समाप्त करना मुश्किल है। कुछ दिनों पहले किसी ने गारण्टीशुदा राष्ट्रीय आय के बारे में एक पत्रिका में छपे एक लेख के विरोध में एक पत्र लिखा : "मैं मेहनत से कमाए अपने पैसे किसी कामचोर व्यक्ति की मदद के लिए क्यों दूँ?" इस प्रश्न के बारे में कोई तार्किक चर्चा करना सम्भव नहीं है। यदि आप दूसरों के बारे में ऐसा ही महसूस करते हैं तो आप उनके बारे में ऐसा ही सोचेंगे। इसी तरह जब पर्यावरणविद् हज़ारों सालों से खड़े रेडवुड के पेड़ों को आने वाली पीढ़ियों के लिए बचाने की बात करेंगे तो लकड़ी के कई बड़े व्यापारी किसी के सामने तो नहीं परन्तु चिढ़े हुए अन्दाज़ में उनकी पीठ पीछे कहेंगे, "भाड़ में जाएँ। भविष्य ने हमारे लिए क्या किया है?" भला क्या? इस सवाल का कोई उचित उत्तर नहीं है। हमें ऐसे लोग चाहिए जो इस तरह का सवाल पूछें ही नहीं; जो अपने आपको मानव जाति की लम्बी ृंखला की एक कड़ी समझें। हमें ऐसे लोग चाहिए जो वाकई अपने देश से प्रेम करते हों, जो महज़ सरकार के कहने पर किसी को भी अपना दुश्मन मानकर उसे नफरत न करने लगें। ऐसे लोग जो हर जगह कूड़ा-कचरा, बियर के डिब्बे और बोतलें न फेंके और इस तरह अपने देशप्रेमी होने का परिचय दें।

हम लालच के बारे में कुछ तो समझते हैं, हालाँकि ज़्यादा नहीं। लालची आदमी अपने अन्दर एक सुराख को भरने में लगा रहता है। वह अपनी आत्मसम्मान-विहीन और सूनी ज़िन्दगी को धन, ऊँचे पदों, सम्मान और सत्ता से भरने की कोशिश करता है। अक्सर लालची आदमी में बदला लेने की भावना भरी होती है। वह अतीत की किसी गलती के लिए हमेशा किसी अन्य व्यक्ति या समाज से बदला लेना चाहता है। लकड़ी का जो ठेकेदार हरी-भरी पहाड़ियों से रेडवुड के पेड़ कटवाकर उन्हें नंगा करता है, जो फैक्ट्री मालिक मिशिगन झील के पास के टीलों को नष्ट करवाकर वहाँ स्टील का नया कारखाना लगवाता है, जो कम्पनी मैनेजर अपने

आसपास की हवा और पानी में ज़हर उगलता है, और जो पर्यटक अपनी कार की खिड़की से कचरे के थैले और बियर के खाली डिब्बे फेंकता है, ये सब एक महत्वपूर्ण ढंग से एक समान हैं। वे सभी अपने मन के किसी कोने में यह कह रहे हैं, "देखो हरामखोरो, हमने तुम्हें मज़ा चखाया है!" उनका पूरा जीवन एक तरह का युद्ध होता है जिसे वे न तो रोक सकते हैं और न ही जीत सकते हैं, क्योंकि वे नहीं जानते कि उनमें किस चीज़ की कमी है, या कि वे उसे कहाँ और कैसे ढूँढें। वे कभी सन्तुष्ट नहीं होते। उनके अन्दर का छिद्र कभी नहीं भरता। शिक्षा के सामने यह चुनौती है कि बच्चे इन छिद्रों से बचकर बड़े कैसे हों, ये छिद्र जिन्हें कभी भरा नहीं जा सकता, जो पूरी पृथ्वी को निगल लेने पर उतारू रहते हैं। प्रश्न लालच से छुटकारा पा लेने का नहीं है। कुछ हद तक यह लालच स्वाभाविक भी है, लेकिन इसकी कोई तर्कसंगत सीमा होनी चाहिए। यहाँ पर लालच को पूरी तरह खत्म करने की बात नहीं हो रही। लालच प्राकृतिक भी हो सकता है, पर उसकी भी कुछ निश्चित सीमाएँ होनी चाहिए। मेन नाम के शहर में खेल-कूद के सामान की बड़ी दुकान है। उसके मालिक मिस्टर बीन को एक बार किसी ने थोड़ी मेहनत से व्यापार को तिगुना करने का गुर बताया। इस पर मिस्टर बीन ने कहा, "आखिर क्यों? मैं दिन में चार बार तो भोजन कर नहीं सकता।" बिल्कुल ठीक; जो है वह काफी है।

स्वतंत्रता

कुछ समय पहले एक प्रतिष्ठित प्राइमरी स्कूल की पालक-शिक्षक संघ की बैठक में मुझे अपने विचार रखने का मौका मिला। इसमें मैंने हमेशा की तरह ही बच्चों की खुद निर्णय लेने और इसे अपने तरीके से सीखने की स्वतंत्रता पर ज़ोर दिया। मीटिंग के बाद एक पालक मेरे पास आया और उसने कहा, "मेरी राय में हमें धीरे-धीरे बच्चों की स्वतंत्रता को कम करना चाहिए जिससे कि बड़े होने पर वे वयस्क जीवन के लिए पूरी तरह तैयार हो सकें।" बहुत से लोगों ने अलग-अलग अवसरों पर ऐसी बातें मुझसे कही हैं। मुझे समझ नहीं आता कि इन प्रश्नों का उत्तर कैसे दूँ। स्वतंत्र कहलाने वाले इस देश में यदि कोई आपसे कहे कि यहाँ अधिकांश लोगों के लिए वैसे ही कोई असली स्वतंत्रता नहीं है, और कि यह स्थिति खराब नहीं है, या कम से कम इसे बदला नहीं जा सकता है, और कि बच्चों के लिए जो बेहतर चीज़ हम कर सकते हैं वह यह है कि उन्हें इस स्थिति का अभ्यस्त होने में मदद दें, तो आप उसे क्या जवाब देंगे?

स्वतंत्रता एक अच्छी और रक्षा करने लायक चीज़ है इसका कोई वैज्ञानिक प्रमाण नज़र नहीं आता। डब्लू. एच. फेरी के शब्दों में कहें तो यह शायद इसलिए अच्छी चीज़ है क्योंकि हमें "मुक्ति का अहसास" अच्छा लगता है। मुझे ऐसा भी लगता है कि स्वतन्त्रता इस देश में गम्भीर खतरे में है। क्योंकि उस अभिभावक जैसे, जिसकी बात मैंने की, कई अन्य लोग भी हैं जिन्होंने कभी खुद को स्वतंत्र महसूस नहीं किया, न करते हैं, और न करेंगे। और इसलिए वे नहीं जानते कि स्वतंत्रता क्या है, या कि वह ऐसी चीज़ क्यों है जिसके बारे में इतना हल्ला किया जाए। अधिकांश अमरीकियों के लिए स्वतंत्रता महज़ एक नारा है जिसके आधार पर वे किसी भी ऐसे विदेशी से घृणा करना, नफरत करना, यहाँ तक कि उसका कत्ल करना भी ठीक मानते हैं जो उनकी नज़र में उनसे कम स्वतंत्र है। जब उन्हें कोई ऐसा व्यक्ति मिलता है – और ऐसा कभी-कभार ही होता है – जो अपनी स्वतंत्रता को गम्भीरता से लेता है तो वे उससे डरते हैं या उस पर नाराज़ होते हैं : "तुम कौन हो? लगता है अव्वल नम्बर के कोई बेवकूफ हो।" क्योंकि – और यह दुख की बात है – जिस व्यक्ति के पास असली स्वतंत्रता नहीं होती, या उसे लगता है कि उसके पास वह नहीं है, वह उसे लेने के बारे में नहीं सोचता; वह केवल इस बारे में सोचता है कि उसे दूसरों से छीना कैसे जाए।

अगर लोग किसी भी कारण से अपने आपको कम स्वतंत्र महसूस करते हैं, चाहे उससे कोई खास अधिकार या स्वतंत्रता खत्म न भी हो, तो उससे बाकी लोगों की स्वतंत्रता को खतरा पैदा होता है। किन कारणों से लोगों को लगता है कि उनकी स्वतंत्रता कम हो गई है? जब उन्हें लगता है कि उन्हें इधर-उधर धकेला जा रहा है; जब उन्हें किसी अज्ञात व्यक्ति की आज्ञा का पालन करना पड़ता है; जब लोग आज्ञा देने वाले व्यक्ति को नियंत्रण में नहीं रख पाने के कारण खुद को बेबस महसूस करते हैं। एक अन्य कारण यह है कि लोगों को पता नहीं चलता कि क्या हो रहा है, उन्हें लगता है कि उन्हें कुछ बताया नहीं जा रहा, कि वे सच्चाई तक पहुँचने में असमर्थ हैं। एक कारण और भी है। लोगों को लगता है कि उनका जीवन उनके अपने वश में नहीं है, कि उनके पास कोई विकल्प नहीं है; कि वे फैसले जो यह निर्धारित करते हैं कि वे इस तरफ जाएँगे या उस तरफ, उनकी पीठ के पीछे दूसरे लोगों द्वारा लिए जाते हैं। इस समाज में स्वतंत्रता के लिए सबसे बड़ा खतरा यही है कि वे वस्तुस्थितियाँ बढ़ रही हैं जिनकी वजह से लोगों को यह सब महसूस होता है और निश्चित तौर पर बढ़ती ही जाएँगी।

इसके दो कारण हैं। पहला यह है कि हमारे दैनिक जीवन से सम्बन्धित संस्थाएँ – व्यापार, सरकारी एजेंसियाँ आदि – दिनोंदिन बड़ी होती जा रही हैं। दूसरा कारण यह है कि वे अधिक केन्द्रीकृत और अमानवीय होती जा रही हैं और उनमें लालफीताशाही बढ़ रही है। जब किसी संस्था के सामने पहली बार कोई समस्या आती है – और हम सब साधारण लोग उनके लिए समस्याएँ ही होते हैं – तो कोई एक व्यक्ति उस पर विचार करता है और उसे हल करने का प्रयास करता है। परन्तु यह हल एक मिसाल बन जाता है। मिसाल एक तंत्र में बदल जाता है और तंत्र एक नियम बन जाता है। जल्द ही सारी संस्थाएँ हमें और आपको केवल अपने सबसे निचले तबके के लोगों से ही मिलने देंगी जो निर्णय लेने में हमारी तरह ही मजबूर और सत्ताविहीन होंगे। वे अपने हाथ खड़े कर देंगे और कहेंगे, "मुझे माफ करें, मैं भला कर ही क्या सकता हूँ, मैं तो यहाँ सिर्फ मज़दूरी करता हूँ।"

कभी-कभार, अगर किस्मत साथ दे तो शायद तमाम प्रयासों के बाद आप इस मशीन को भेदने में सफल हो जाएँ और आपको कोई ऐसा व्यक्ति मिल जाए जो निर्णय लेने और काम करने में सक्षम हो और उसके लिए तैयार हो। कुछ वर्ष पहले मैंने एक बड़े डिपार्टमेंट स्टोर से कुछ चीज़ों का ऑर्डर दिया था। उनके पास उनमें से केवल आधी ही चीज़ें थीं जो उन्होंने मुझे भेज दीं। लेकिन उन्होंने मुझे पूरे ऑर्डर का बिल बनाकर भेज दिया और कहा कि पूरा बिल जमा करने के बाद मुझे बकाया राशि का क्रेडिट मिल जाएगा। मैंने बिल का भुगतान नहीं किया। मैंने कहा कि पूरा सामान मिलने पर ही मैं पूरे बिल का भुगतान करूँगा। इसके बाद उस डिपार्टमेंट स्टोर ने मुझे अनेक पत्र लिखे जिनमें धमकियों के साथ मेरे खिलाफ कानूनी कार्यवाही करने की बात लिखी गई थी। उन्होंने यह भी धमकी दी कि वे मेरे बैंक को भी पत्र लिखेंगे। मैंने भी गुस्से में आकर उन्हें कई जवाब दिए। करीब छह महीनों के बाद मुझे एक पत्र मिला जिस पर वाकई किसी इंसान ने हस्ताक्षर किए थे। मैंने तत्काल फोन मिलाकर उसे पूरी कहानी बताई। उसने मुझसे माफी माँगी और पूरे सहयोग का आश्वासन दिया। अगले कुछ हफ्तों में मेरे ऑर्डर का बकाया माल आ गया और फिर मैंने पूरे बिल का भुगतान कर दिया। कम-से-कम अन्त तो सुखद हुआ। परन्तु अगर मैंने स्टोर को पहले ही पैसे दे दिए होते तो शायद अन्त इतना सुखद न होता। और आम इंसान के पास बड़े डिपार्टमेंट स्टोरों को ढेरों पत्र लिखने और वकीलों, बैंकों के पचड़े में पड़ने का वक्त ही नहीं होता।

अक्सर सरकार भी बहुत दूर स्थित मालूम पड़ती है। मैंने राष्ट्रपति,

उपराष्ट्रपति, कैबिनेट सदस्यों और काँग्रेस के सदस्यों को बहुत से पत्र लिखे हैं। बहुत कम बार ही मुझे कोई ऐसा जवाब मिला है जिससे लगे कि उस महानुभाव ने मेरा पत्र पढ़ा भी था। ज़्यादातर तो बस पत्र प्राप्त होने की पावती ही मिलती है। मेरे पत्रों को अवश्य कोई पढ़ता होगा। लेकिन आम तौर पर ऐसा व्यक्ति कुछ करने की स्थिति में नहीं होता, और शायद उसे मेरे विचारों की कोई परवाह भी न हो। अधिक से अधिक वह मेरे पत्रों को किसी फाइल में लगा देता होगा। इन पत्र पढ़ने वालों का काम मेरी बात को अपने ऊँचे अफसरों तक पहुँचाना नहीं है, बल्कि उनके और मेरे बीच दीवार बनकर खड़े रहना है। उनका काम मुझे शान्त करना है, मुझे फुसलाकर चुप कराना है, ताकि मैं उनके अफसरों को परेशान न करूँ, ताकि वे उस काम को करते रहें जो उनके विचार में *उनका* असली काम है। और, मैं यह भी जोड़ दूँ, ताकि मैं उन सब बातों को सच मान लूँ जो उन्होंने मुझे बताने का फैसला किया है। क्योंकि हमारी सरकार धीरे-धीरे और सटीक गोपनीय और झूठी होती जा रही है। यह सरकार हमसे अपनी गोपनीयता और झूठ को छुपाने की कोशिश भी नहीं करती। ऊँचे अफसर हमसे साफ-साफ कहते हैं कि कुछ क्षेत्रों के बारे में जानकारी हासिल करने का हमारा कोई हक ही नहीं है, और कि इनके बारे में वे हमें कुछ भी नहीं बताएँगे।

हमें अपनी स्वतंत्रता में कमी का अहसास उस वक्त भी होता है जब लोग हमारे निजी जीवन में दखल देते हैं। यह दखल-अन्दाज़ी गैर-आधिकारिक और आधिकारिक दोनों प्रकार की होती है। पहली के बारे में तो कुछ कहने की ज़रूरत ही नहीं। पिछले एक साल में लोगों के टेलीफोन आदि "टैप" करने के बारे में कई लेख छपे हैं। इस काम के लिए कई नए-नए यंत्र विकसित हुए हैं और उनका इस्तेमाल बढ़ता जा रहा है। ये असामान्य किस्म की गतिविधियाँ हैं। स्वतंत्रता में विश्वास रखने वाले कुछ लोग इससे बहुत नाराज़ हैं और उन्होंने इसके खिलाफ अपनी आवाज़ भी उठाई है। परन्तु उससे सरकार के कान में जूँ भी नहीं रेंगेगी। धीरे-धीरे हमारी ज़िन्दगी में दखल बढ़ेगी ही, कम नहीं होगी। केन्द्रीय, राज्य और स्थानीय सरकारों के कई विभाग, और निजी एजेंसियाँ, जिनकी संख्या बढ़ती जाएगी, कानूनों को तोड़ती रहेंगी। और आम आदमी, अपनी इच्छा से या शायद मजबूरी में, इस विचार को स्वीकार करता जाएगा कि अधिकारी उसके वार्तालापों को जब चाहे सुन सकते हैं, और वे सुनेंगे भी।

आधिकारिक या अनिवार्य दखल-अन्दाज़ी से मेरा मतलब उन मनोविज्ञानिक

परीक्षणों से है जहाँ पर लोगों को अपने विचारों, सपनों, इच्छाओं, भय आदि के बारे में मजबूर होकर बताना पड़ता है, जिनके बारे में वे आम तौर पर बताना नहीं चाहेंगे। बहुत-सी नौकरियों के लिए आपको इस प्रकार के कई परीक्षण लेने होंगे। लोग इन परीक्षणों से घृणा करते हैं और उनका तिरस्कार करते हैं, परन्तु आने वाले समय में इनमें और बढ़त आएगी। पहले तो इनसे आमदनी होती है। दूसरे, अन्य लोगों की ज़िन्दगी में झाँकने की इच्छा पूरी होती है। तीसरे, इससे इस मिथक को बल मिलता है कि "विज्ञान" मानवीय जीवन के खतरों को दूर कर सकता है। आजकल सुरक्षा के नाम पर लोगों से उनके पूर्व विश्वासों और सम्बन्धों के बारे में शपथ लेकर बताने को कहा जा रहा है। उनके पड़ोसियों, मकान मालिकों, मित्रों आदि से भी लोगों के बारे में बहुत-सी निजी जानकारी हासिल की जा रही है। अफवाह है कि देश के सभी निवासियों के बारे में इस तमाम जानकारी को वॉशिंगटन में इस्तेमाल के लिए संकलित किया जाएगा। कुछ अल्पसंख्यक स्वतंत्रता-प्रेमी इसका अवश्य विरोध करेंगे। परन्तु लगता है कि लोगों के निजी जीवन पर जानकारी एकत्रित और केन्द्रीकृत करने का काम और तेज़ होगा, जिससे धीरे-धीरे आम नागरिक अपने आपको और भी कम स्वतंत्र महसूस करेगा।

इन दबावों के चलते हम अपनी स्वतंत्रता को कैसे बचाएँ और उसे कैसे बढ़ाएँ? स्पष्ट है कि इसके लिए हमें एक ऐसी पीढ़ी, बल्कि कई ऐसी पीढ़ियाँ चाहिए होंगी जिन्हें स्वतंत्रता से गहरा लगाव हो, और यह लगाव हमसे भी गहरा हो। वर्तमान स्कूल ऐसी पीढ़ियाँ तैयार नहीं कर रहे हैं। हाईस्कूल के छात्रों के सर्वेक्षणों से पता चलता है कि एक तो वे अपने मौलिक अधिकारों के बारे में बहुत कम जानते हैं। दूसरे, वे जो कुछ जानते भी हैं, या जो कुछ भी उन्हें बताया जाता है वे उस पर विश्वास नहीं करते। एक सर्वेक्षण के अनुसार चालीस प्रतिशत छात्र चाहते हैं कि पुलिस मुजरिमों से अपराध स्वीकार करवाने के लिए "थर्ड डिग्री" यानी कठोर यातनाओं का उपयोग करे। अन्य चीज़ों के बारे में भी उनके जवाब कम अधिकारवादी और डरावने नहीं थे।

हमारे स्कूलों की हालत को देखते हुए इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। आज सार्वजनिक शिक्षा की सबसे दुखद और खौफनाक बात यह है कि लगभग सभी स्कूलों में बच्चों के साथ, अधिकतर समय, जेल के कैदियों जैसा व्यवहार किया जाता है। दक्षिण अफ्रीका में काले लोगों की तरह वे बिना लिखित अनुमति के इधर से उधर नहीं जा सकते, और स्कूल

की पूरी इमारत छात्र-मॉनीटरों, यानी जासूसों और खुफिया चुगलखोरों से भरी होती है जिनका काम इस लिखित अनुमति को जाँचना होता है। दिन के ज़्यादातर समय छात्र बिना अनुमति के बोल भी नहीं सकते हैं। परन्तु फिर भी यह दिल दहला देने वाली बात नहीं है। सबसे दुखद बात तो यह है कि छात्र इसका विरोध नहीं करते, इसके बारे में शिकायत नहीं करते, उन्हें इसमें कुछ बुरा नहीं लगता, बल्कि वे इसकी पैरवी करते हैं और इसे ज़रूरी और अपने लिए हितकारी समझते हैं। उन्हें वाकई गुलामी के लिए तैयार कर दिया गया है।

एक बार शहर के एक बड़े पब्लिक स्कूल के एक अधिकारी ने हाई स्कूल के साठ-सत्तर छात्रों को, जिनमें अधिकतर नीग्रो थे, और कुछ शिक्षकों को एक भाषण दिया। इस समारोह में मैं भी शामिल था। छात्रों को उनका सन्देश थाः तुम स्कूल में अच्छा बर्ताव करो। शिक्षकों की बात पर हमेशा तत्काल अमल करो। उनसे प्रश्न मत पूछो या बहस मत करो। क्यों? क्योंकि स्कूल ने हरेक छात्र के लिए एक अलग कार्ड बनाया है जिस पर कोई भी शिक्षक आकर तुम्हारे द्वारा किए गए किसी भी ऐसे काम को जिसे वह पसन्द नहीं करता लिख सकता है। और जब तुम स्कूल छोड़कर नौकरी करने जाओगे तो वह कार्ड तुम्हारे भावी मालिक के पास हमेशा के लिए रहेगा। यह सुनकर मैं सहम उठा और मुझे अपने कानों पर विश्वास नहीं हुआ। इस अधिकारी ने स्कूल की कुछ अच्छाइयों, जैसे विभिन्न पेशों, नौकरियों की सम्भावना आदि का भी बखान किया। उसको सुनते समय बहुत से प्रश्न लगातार मुझे सता रहे थे। क्या यह सच हो सकता है? क्या यह एक आम बात है? क्या छात्रों को पता होता है कि कार्ड पर क्या लिखा है? क्या कभी छात्रों को अपनी ओर से सफाई देने का मौका मिलता है? क्या वे इसके खिलाफ कोई याचना कर सकते हैं? क्या इन छात्रों को कुछ सुरक्षा मिलेगी जो हमारा कानून सामान्य तौर पर उन वयस्कों को देता है जिन पर अपराधी होने का आरोप होता है और जिन्हें उसके लिए सज़ा मिल सकती है?

प्रश्न-उत्तर के सत्र के दौरान मैं उत्सुकता से छात्रों द्वारा पूछे जाने वाले प्रश्नों का इन्तज़ार करने लगा। यह बैठक छात्रों के लिए ही थी और वही इस दुव्यर्वहार के शिकार थे; इसलिए उनको ही सबसे पहले प्रश्न पूछने चाहिए थे। परन्तु किसी छात्र ने प्रश्न नहीं पूछे। अन्त में, अपने आप को बड़ी मुश्किल से संयत रखते हुए, मैंने ही प्रश्न पूछे। वक्ता ने बड़े ठण्डे दिमाग से मेरे प्रश्नों का जवाब दिया। उसे अन्य शहरों के बारे में तो पता

नहीं था, परन्तु उसके अनुसार इस शहर की यही परम्परा थी। नहीं, छात्रों को उन पर लगाए गए आरोपों के बारे में कुछ पता नहीं रहता था, न ही उन्हें सफाई पेश करने का कोई मौका दिया जाता था। हाँ, हो सकता है कि इसमें कुछ अन्याय भी होता हो – मेरे लिए यह सब समझना और पचाना सबसे ज़्यादा मुश्किल इसलिए था क्योंकि वक्ता खुद एक नीग्रो था – परन्तु चीज़ों को चलाने का यही एक समझदार तरीका था। वैसे भी यह एक तंत्र था। उस आदमी का काम इस तंत्र को बदलना या उसके बारे में शिकायत करना नहीं था। वैसे भी वह छात्रों को अपने अधिकार क्षेत्र से कुछ अधिक ही बता रहा था। दूसरे अधिकारी तो इतना भी नहीं करते। जो कि, मेरे ख्याल में, बिल्कुल सही बात थी।

बाद में, कक्षाओं में हमने इस चर्चा को आगे बढ़ाया। कुछ छात्रों को इन कार्डों के बारे में पहले से ही पता था। जिन्हें पता नहीं था उन्हें भी इस जानकारी से कोई आश्चर्य नहीं हुआ। उन्हें लगभग इसी की उम्मीद थी। उन्हें इस बात पर मेरा परेशान होना और विचलित होना बिल्कुल भी समझ में नहीं आ रहा था। मैंने उनसे गलियारों में आने-जाने के लिए अनुमति पत्रों की बात पूछी। हाँ, सभी छात्रों को उन्हें भरना पड़ता था। बिना अनुमति के इधर-उधर न जा पाने के बारे में वे क्या सोचते थे? उन्हें इसके बारे में कोई गिला-शिकवा नहीं था। एक बुद्धिमान छात्र, जो अपने आपको उदारवादी, बल्कि परिवर्तनवादी मानता था और नागरिक-अधिकारों और शान्ति के आन्दोलनों में काफी सक्रिय था, ने कहा, "अधिकारियों को स्कूल इसी प्रकार चलाना पड़ता है, नहीं तो छात्र पूरी इमारत को ही तहस-नहस कर डालेंगे।" मैंने पूछा, "क्या तुम ऐसा करोगे?" उसने उत्तर दिया, "नहीं, मैं तो नहीं करूँगा, परन्तु अन्य छात्र ज़रूर ऐसा करेंगे। अगर उन्हें मुक्त होकर इधर से उधर आने-जाने की सुविधा मिली तो वे अवश्य उसका दुरुपयोग करेंगे।" सुविधा! वह ऐसे बात कर रहा था जैसे कि वह जेल में हो और जेल के आँगन में व्यायाम करने के लिए रोज़ मिलने वाले एक घण्टे के बारे में बता रहा हो।

पिछले साल जूनियर हाई स्कूल की एक छात्रा अपने घर एक पर्चा लेकर आई जिस पर लिखा था, "आपका क, ख, ग हाई स्कूल में हार्दिक स्वागत है।" यह पर्चा प्रत्येक छात्र को दिया गया था। मैंने उस पर्चे को पढ़ा। वह एक अद्‌भुत दस्तावेज़ था। मैं उस पर्चे की तुलना सेना द्वारा अपने नए रंगरूटों के लिए छापे गए एक पर्चे से करने से खुद को रोक नहीं सका।

सेना का पर्चा हाई स्कूल के पर्चे की तुलना में कहीं अधिक दोस्ताना, दिलचस्प और स्वागत के अन्दाज़ में लिखा गया था। सेना का सन्देश था, "आपके आने की हमें खुशी है। यहाँ पर कई बेहद रोचक चीज़ें हो रही हैं। हमें उम्मीद है कि आपको उनमें मज़ा आएगा और आपको यहाँ पर अच्छा लगेगा।" दूसरी ओर जूनियर हाई स्कूल का सन्देश कुछ ऐसा था, "हम आप पर लगातार नज़र रखे हैं; आपकी शरारतों पर भी हमारा पूरा ध्यान है। आपने नियमों का ज़रा भी उल्लंघन किया तो आपको तुरन्त नानी याद आ जाएगी।" खौफनाक कैदियों की जेल को चलाने के लिए बनाए जाने वाले नियमों के लिए शायद यह एक अच्छा नमूना रहा होता।

इस प्रकार के व्यवहार का बच्चों पर क्या असर होता है? वही जिसकी हम उम्मीद कर सकते हैं। इससे बच्चों में आत्मसम्मान की भावना पूरी तरह नष्ट हो जाती है, यदि उनमें ऐसी कोई भावना रही हो तो; यदि यह भावना उनमें नहीं है तो उसे पैदा करना लगभग असम्भव हो जाता है। बच्चों को ऐसा लगने लगता है कि उन पर और अन्य लोगों पर विश्वास नहीं किया जा सकता, कि वे सम्मान के काबिल नहीं हैं, और उन्हें कोई भी ज़िम्मेदारी नहीं सौंपी जा सकती। बच्चों से स्वतंत्रता चखने, उसका उपयोग करने, उसमें आनन्द लेने और उसका सम्मान करने का अवसर छीनकर उन्हें आश्वस्त कर दिया जाता है कि सच्ची व्यक्तिगत स्वतंत्रता या तो अर्थहीन है या फिर खतरनाक। संक्षेप में, यह गुलामी का सबसे अच्छा प्रशिक्षण है। यदि हम एक ऐसा देश चाहते हैं जहाँ हरेक व्यक्ति का एक निर्धारित स्थान हो, जहाँ वह अपने से ऊपर के सभी लोगों का गुलाम हो और अपने से नीचे के सभी लोगों का मालिक हो, एक ऐसा देश जहाँ सभी लोग सत्ता के सामने घुटने टेकते हों; यानी हिटलर से कुछ समय पूर्व जर्मनी जैसा देश — यदि हम ऐसा ही चाहते हैं तो हम सही रास्ते पर चल रहे हैं। तब हम उस पथ पर तेज़ी से अग्रसर हैं। एडगर फ्राइडिनबर्ग ने अपनी पुस्तकों (*द वैनिशिंग एडोल्सेंट* और *द कमिंग ऑफ एॅज इन अमेरिका*) में हाल ही में लिखा है कि आजकल स्कूलों में शारीरिक दण्ड देने में तेज़ी से इज़ाफा हुआ है — वहाँ बच्चों की जमकर पिटाई होती है।

दूसरी ओर, यदि हम एक ऐसे देश की कामना करते हैं जहाँ लोग भेड़चाल और गुलामी की जमकर खिलाफत करें और खुद के और अन्य लोगों के नागरिक अधिकारों की सुरक्षा के लिए लड़ें, तो हमें अपने बच्चों को स्कूलों में कुछ सच्ची स्वतंत्रता देनी चाहिए — चलने, घूमने-फिरने, बोलने

की स्वतंत्रता, अपने समय को योजनाबद्ध तरीके से उपयोग करने की स्वतंत्रता, अपने काम को दिशा देने और उसके मूल्यांकन की स्वतंत्रता, समझदार इंसान समझे जाने की स्वतंत्रता।

— 1968

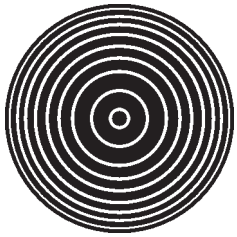

ब्लैकबोर्ड की गड़बड़

लर्निंग टू टीच इन अर्बन स्कूल्स, लेखक डोरोथी एम. मैकगियोच। कैरोल आर. ब्लूमगार्डन, एलिन ओ. फुरेडी, लिन डब्लू रैंडोल्फ एवं यूजीन डी. रूथ, जूनियर, के साथ।

यह एक सुघड़ छपाई वाली, रोचक पुस्तक है जिससे कई बातों का खुलासा होता है। शिक्षा पर कई अन्य पुस्तकों की तुलना में यह किताब स्पष्ट, संक्षिप्त और निष्पक्ष है। यह बहुत उदास करने वाली पुस्तक भी है।

यहाँ चार नौजवान शिक्षकों ने शहर में बस्ती के स्कूलों में पाँच साल के अपने काम को खुद अपने शब्दों में सुनाया है। उनकी बातें आकर्षक हैं। ये लोग काम में दृढ़, ईमानदार और उत्साही हैं। वे बच्चों की सहायता करने को आतुर हैं, खुद अपनी तीखी आलोचनाएँ करते हैं, और कोई भी अच्छी सलाह और आलोचना मानने को तैयार हैं। उन्हें पढ़कर ऐसा

महसूस होता है कि हम भाग्यशाली हैं कि ऐसे कुछ लोगों ने शिक्षक के पेशे को अपनाया है। इसमें कोई शक नहीं कि ऐसे लोगों के सहयोग से हम जल्द ही गरीब बस्तियों में शिक्षा की भयानक समस्याओं का कोई हल निकाल लेंगे।

परन्तु एक बात से मन दुखी होता है। ये बहुगुण सम्पन्न लोग अपनी सद्इच्छाओं, असीमित ऊर्जा और निष्ठा के बावजूद, अन्य शिक्षकों की तरह ही अन्त में अच्छाई की जगह कुछ अनर्थ ही करेंगे। उन्होंने बस्ती के बच्चों के बारे में जो कुछ भी पढ़ा और सुना है उसके बावजूद वे बुरी तरह कुशिक्षित हैं। उनके सामने जो अनुभव हैं वे उसके लिए ज़रा भी तैयार नहीं हैं, न ही वे उनसे सीखने के लिए सक्षम हैं। वे अपने पूर्व शिक्षकों के समान ही सीखने की सही प्रकृति को नहीं समझते। बच्चों को स्कूल कैसे लगते हैं, स्कूलों के बारे में बच्चे क्या सोचते हैं, क्या महसूस करते हैं, और उनके प्रति उनकी क्या प्रतिक्रिया होती है, उनका व्यवहार वैसा क्यों है जैसा कि वह है, इसका भी इन्हें कोई इल्म नहीं है। उन्हें इस बात की बिल्कुल भी जानकारी नहीं कि अपने वातावरण के बारे में बच्चों की भावनाएँ कैसे उनके शिक्षण को प्रभावित करती हैं। न ही वे यह जानते हैं कि किस तरह का माहौल सीखने को बढ़ावा देता है और अपनी कक्षाओं में उसका निर्माण कैसे करना है। इन प्रश्नों को ही उन्होंने कभी नहीं पूछा है, उनके उत्तर खोजने की बात तो दूर रही।

एक ग्रामीण के बारे में एक पुरानी कहानी है जिसमें उससे पोस्ट-ऑफिस का पता पूछा जाता है। वह कई प्रकार से रास्ता बताने की कोशिश करता है परन्तु अन्त में हताश होकर कहता है, "सच बात तो यह है कि आप यहाँ से पोस्ट-ऑफिस पहुँच ही नहीं सकते हैं।" जिस बिन्दु से ये नौजवान शुरू हुए हैं, वहाँ से वे उस जगह पहुँच नहीं पाएँगे जहाँ पर वे जाना चाहते हैं और जहाँ हम भी चाहते हैं कि वे जाएँ – एक ऐसी शिक्षा तक जिससे उनके छात्रों का जीवन समृद्ध और आलोकित हो। शिक्षा का उनका मॉडल बुनियादी और तात्विक रूप में इतना गलत है कि उसमें पैबन्द लगाने और मरम्मत करने से कोई फायदा नहीं होगा।

शिक्षा सम्बन्धी उनकी बातचीत को सुनें:

- शिक्षक (क): "मुझे सुबह के समय स्कूल आने में कुछ भय लगता है। इसीलिए मैंने अपनी कक्षा में पढ़ाई की शुरुआत सख्ती से की....। पिछली पूरी गर्मियों में मुझे पढ़ाते समय डर लगता रहा। ...मैं पढ़ाने के

बारे में सोचकर डरती रही और काँपती रही। ....मैं इस सब से वाकई बहुत डर रही थी, परन्तु बाद में स्थिति उतनी बुरी नहीं रही। मुझे बहुत-सी बातों के खराब होने का डर था। ऐसा लगता था कि बच्चे मेरी बात की अनसुनी करेंगे और कक्षा में अराजकता फैल जाएगी। मेरा मानना है कि कक्षा में हरेक काम व्यवस्थित ढंग से होना चाहिए, नहीं तो बच्चे कुछ सीखेंगे नहीं। ....अगर वे एक-दूसरे से धीरे-धीरे फुसफुसाकर बोलते हैं तो कोई बात नहीं, परन्तु उन्हें अपनी आवाज़ के स्तर को न्यूनतम रखना चाहिए।" •

मैं यहाँ एक टिप्पणी करना चाहता हूँ। यह बात उन बच्चों के लिए कही जा रही है जिनकी सबसे बड़ी समस्या यह है कि उन्हें भाषा के उपयोग का बहुत कम अनुभव है। अब आगे का हालः

शिक्षक (ख): "…..खेलकूद वाले शिक्षक ने व्यवस्था बनाने में मेरी सहायता की। हम हर हफ्ते एक ही काम करते थे। लड़के बास्केटबॉल खेलते थे और लड़कियाँ रस्सी कूदती थीं। मैंने सोचा था कि बच्चों को कुछ सामूहिक खेल खेलने चाहिए और कुछ दौड़ में भाग लेना चाहिए, परन्तु मैं हर हफ्ते कार्यक्रम को बदलने में असफल रही।"

शिक्षक (ग): "कभी-कभी मैं किसी दूसरे शिक्षक से पूछती हूँ कि वह कौन सा पाठ पढ़ा रही है। अगर वह भी मेरी ही तरह धीमी गति से चल रही है तो मुझे अच्छा लगता है। और अगर कोई शिक्षक मुझसे कई अध्याय आगे होता है तो मेरे पेट में दर्द होने लगता है…..।

"बच्चों को लगता है कि कक्षा में पिछड़ना बड़े शर्म की बात होती है। वे इस बात को समझते हैं कि कक्षा में एक नियत सारणी है जिसके अनुसार काम आगे बढ़ना चाहिए, और कि दूसरे लोग उसके अनुसार चल रहे हैं और वे खुद नहीं चल रहे।

"अन्त में मैं सुबह की असेंबली में कुछ व्यवस्था बना पाई.... मैं व्यवस्था बनाने का दृढ़ निश्चय किए हुए थी।"

शिक्षक (घ): "मुझे तब लगा था — और अब भी लगता है — कि अच्छे अनुशासन का मतलब होता है कि आप जब चाहें बच्चों के ध्यान पर अधिकार जताकर उसे अपनी ओर आकर्षित कर सकें। …..अगर ऐसा नहीं होगा तो बाद में कक्षा को मज़बूती से अपनी गिरफ्त में ले पाना बहुत मुश्किल हो जाएगा।

"अन्त में आपको कक्षा में अनुशासन लागू करना ही पड़ेगा *क्योंकि*

> *तभी आप कुछ पढ़ा पाएँगे* [इन शब्दों पर ज़ोर मैंने दिया है — होल्ट]। इसके लिए आपको एक समय-सारिणी तय करनी होगी और उसे लगातार लागू करना होगा।"
>
> संपादकः "प्रत्येक नया शिक्षक अनुशासन के बारे में फिक्र करता है। नए शिक्षकों के दिमाग में बस एक ही बात लगातार घूमती रहती हैः 'क्या बच्चे मेरी आज्ञा का पालन करेंगे?'"

ऊपर के उद्धरणों से यही लगता है कि ये शिक्षक अपने डर में व्यवस्था, नियंत्रण, आज्ञा और अनुशासन से ही पूरी तरह ग्रस्त हैं। शिक्षा और कक्षा का उनका मॉडल किसी फैक्ट्री की असेम्बली-लाइन जैसा है। इसमें बच्चे खाली प्यालों की तरह एक लाइन में लगे सबसे अन्त में आते हैं। लाइन के पास, अपनी-अपनी जगह पर, शिक्षक खड़े रहते हैं। शिक्षकों का काम इन खाली बर्तनों में अँग्रेज़ी, गणित आदि का सुनिश्चित मात्राओं में ज्ञान उँड़ेलना होता है। उँड़ेलने का काम आसान होता है और इसे कोई भी कर सकता है। शिक्षक निर्देशिकाओं में जो बातें लिखी होती हैं उन्हें कोई भी आसानी से कर सकता है। शिक्षक की असली समस्या, उसका असली काम ज्ञान उँड़ेलते समय बच्चों को कनवेयर बेल्ट पर चुप बिठाए रखना है। इसीलिए ये शिक्षक और बाकी अन्य शिक्षक भी यह सोचते हैं कि शिक्षा व्यवस्था में से ही पैदा होती है। उनके अनुसार यदि आप व्यवस्था बना दें तो सीखने का काम अपने आप शुरू हो जाएगा।

शहरों के स्कूलों में तो यह तरीका कारगर साबित हुआ है। फिर गरीब बस्तियों के स्कूलों में यह क्यों काम नहीं करता?

समाजशास्त्री सांस्कृतिक वंचन के बारे में पांडित्यपूर्ण सिद्धान्त देते हैं। इसका ज़रूर इन स्कूलों से कुछ सम्बन्ध है, पर अधिक नहीं। शहरी स्कूल भी बुरी तरह उबाऊ और अक्सर कष्ट देने वाली जगहें होते हैं, परन्तु मध्यम-वर्गीय बच्चे उनको इसलिए झेलते हैं क्योंकि वयस्क उनके सामने लालच और सज़ा का जाल रचते हैं। गरीब बस्तियों के बच्चों का, और असल में किसी भी स्कूल में बार-बार फेल होने वाले बच्चों का धीरे-धीरे लालच से यकीन हट जाता है और वे सज़ा से डरना भी बन्द कर देते हैं। ये बच्चे समझ जाते हैं कि पुरस्कार तो उन्हें कोई मिलेगा नहीं। जहाँ तक सज़ा की बात है तो बच्चों को पता होता है कि एक सीमा के बाद समाज उन्हें और अधिक कड़ी सज़ा नहीं दे सकता। और वे धीरे-धीरे सज़ा के

अभ्यस्त हो जाते हैं। अभ्यस्त ही नहीं – वे सज़ा मिलने में एक तरह का गर्व महसूस करने लगते हैं। जब किसी बच्चे को कई दफा समाज से बाहर फेंक दिया जाता है तो फिर उसे समाज से बाहर रहना ही अच्छा लगने लगता है।

गरीब बस्तियों के लिए हमें कुछ ऐसा चाहिए जो इससे बेहतर हो। एक अच्छी व्यवस्था सच्ची सीख से ही पैदा होती है, ऐसी सीख जो बच्चों की उत्सुकता को शान्त करे, जो बच्चों को उनके जीवन और उनकी आसपास की दुनिया को समझने में सहायक हो, जो उनकी गरीबी की ज़िन्दगी को कुछ बेहतर, कुछ जीने योग्य बनाने में मदद दे।

इस प्रकार की सीख को हम कक्षाओं में कैसे ला सकते हैं? इसको लेकर कुछ अच्छा काम हुआ है और कुछ बेहतरीन किताबें लिखी गई हैं, जैसे सिल्विया एश्टन वार्नर की पुस्तक *टीचर* और पॉल गुडमैन की पुस्तक *कम्पल्सरी मिसएज्यूकेशन*। दुर्भाग्यवश, इन चारों युवा शिक्षकों की पुस्तक-सूची में से ये दोनों किताबें नदारद हैं। इसलिए अगर कोई करिश्मा नहीं होगा तो ये शिक्षक अपनी कक्षाओं को सीखने की फैक्ट्रियों में बदलने का संघर्ष करते रहेंगे। हो सकता है कि वे शिक्षक का पेशा ही छोड़ दें, या उनका शिक्षा से विश्वास ही उठ जाए। या वे "योग्य" – यानी आज्ञाकारी बच्चों को पढ़ाने लगें या फिर कोई प्रशासनिक काम करने लगें। परन्तु यह उनकी प्रतिभा और आदर्शों का हनन होगा।

– 1965

जेल में बच्चे

विलेज स्कूल डाउनटाउन, लेखक पीटर श्रैग।
डेथ एट एन अर्ली एज: द डिस्ट्रक्शन ऑफ द हार्ट्स एण्ड माइण्ड्स ऑफ नीग्रो चिल्ड्रन इन द बॉस्टन पब्लिक स्कूल्स, लेखक जोनाथन कोज़ोल।

बड़े शहरों में पब्लिक स्कूलों का पतन हमारे समय की सबसे तीखी और दर्दनाक सामाजिक घटनाओं में से एक है। उसके कारण उन लाखों लोगों को शहरों से पलायन करने को मजबूर होना पड़ा है जिनका धन, प्रतिभा, प्रशिक्षण और रुचियाँ शहरों को ज़िन्दा और सुसंस्कृत स्थान बनाए रखने में मदद कर सकती थीं। इसके अलावा, इससे वे लोग जो गरीबी या अपने रंग के कारण शहरों में रहने को विवश हैं, शहरों और उनकी संस्थाओं और संस्कृति से विलग होते चले गए हैं, और ऐसे लोगों की संख्या बढ़ रही है। स्कूलों का मानना है कि वे स्वयं शहरी पतन के शिकार हैं, उसका कारण नहीं। परन्तु सच्चाई यह है कि स्कूलों की समस्याओं और अक्सर अच्छी मनोकामनाओं के बावजूद वे शहरी पतन का कारण भी उतना ही हैं जितना वे उसके शिकार हैं।

हमारे शहरी स्कूल कितने खराब हैं? वे इतने खराब कैसे हुए? जवाब के तौर पर ये दोनों पुस्तकें मेरे अपने शहर बॉस्टन में पब्लिक स्कूलों की दशा का पर्दाफाश करती हैं। दोनों के तरीके एक-दूसरे से बिल्कुल भिन्न हैं। श्रैग पूरे स्कूली तंत्र का बाहर से अवलोकन करते हैं। शिक्षा के प्रति गहरी चिन्ता रखने वाले शिक्षाविद् की हैसियत से श्रैग स्कूलों को एक संवेदनशील और वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण से परखते हैं। उनका शोध सन्तुलित, मज़ाकिया और अन्तदर्ृष्टियों से भरा हुआ है। दूसरी ओर कोज़ोल की पुस्तक उन स्कूलों का अन्दरूनी खुलासा करती है। इसमें उन स्कूलों द्वारा नीग्रो बच्चों के प्रति किए दुर्व्यवहार का वर्णन है जिनमें कोज़ोल ने खुद पढ़ाया है। इस दुर्व्यवहार को लेकर कोज़ोल निजी तौर पर दुखी और पीड़ित हैं। उनकी पुस्तक वस्तुनिष्ठ भले ही न हो, वह ज़रा भी न्यायसंगत न लगे, परन्तु उसमें सच्चाई है। वे श्रैग की तरह दानव को उसका श्रेय नहीं देना चाहते, वे सिर्फ यह दिखाना चाहते हैं कि दानव क्या करता है।

श्रैग से हमें सबसे पहले यह मालूम पड़ता है कि :

• शहर के एक-तिहाई से अधिक स्कूल पचास साल से ज़्यादा पुराने हैं; कई तो दो सौ साल से भी ज़्यादा पुराने हैं। उन बीस स्कूलों में से जिनके 90 प्रतिशत बच्चे नीग्रो हैं, अठारह पहले महायुद्ध से भी पहले बने थे। इनमें से कुछ स्कूल तो एकदम खण्डहर हैं, कुछ में बहुत ज़्यादा बच्चे हैं और उनका रख-रखाव खराब है, और वे अपने आसपास काफी गन्दगी फैलाते हैं। •

उसके बावजूद "पिछले दो वर्षों में शहर में एक भी नया स्कूल नहीं बना है, जबकि शहर के मेयर और सिटी काउंसिल ने 290 लाख डॉलर के निर्माण फण्ड को मंज़ूरी दी थी।" स्कूलों में उपकरणों की हालत भी इमारतों से अधिक अच्छी नहीं है।

• कुछ [स्कूलों] में हरेक कक्षा में पैंतालीस से अधिक बच्चे ठुँसे हैं। कुछ अन्य स्कूलों में शिक्षकों को कक्षाएँ किसी तहखाने, भोजनकक्ष या फिर किसी अन्य अस्थायी स्थान पर लगानी पड़ती हैं। बहुत कम हाई स्कूलों में ही कोई पुस्तकालय है, और प्राइमरी स्कूलों में तो बिल्कुल भी नहीं। अधिकांश पुस्तकें फटी-पुरानी और गन्दी हैं, और अक्सर नई पुस्तकों की बहुत कम प्रतियाँ होती हैं। •

आश्चर्य की बात तो यह है कि न तो प्रशासक और न ही निर्वाचित स्कूल

कमेटी इस समस्या से निबटने के बारे में कुछ कर रही है। वे इस स्थिति को समस्या मानते ही नहीं। श्रैग के अनुसार, "इस कारण पिट्सबर्ग में नए निर्माण के पक्ष में सामाजिक सहानुभूति अर्जित करने के लिए वहाँ का प्रशासन टूटी-फूटी स्कूली इमारतों के चित्र छापता है। वहाँ स्कूलों में कमरों की तंगी को लेकर पर्चे छपते हैं.... परन्तु बॉस्टन में नहीं। प्रशासकों को उनकी गलतियों के लिए दण्डित करने की बजाय बॉस्टन में स्कूल कमेटियाँ प्रशासन के साथ मिलकर समस्या को ढँकने का भरपूर प्रयास करती हैं....।" हाँ, धन के अभाव में भी अच्छे स्कूल खराब इमारतों में चल सकते हैं। परन्तु बॉस्टन के स्कूली तंत्र के पास धन की कोई कमी नहीं है, और न ही उसने ऐसा दावा कभी किया है।

इस तंत्र में कुछ अन्दरूनी खराबी है:

• शहर के अधिकांश शिक्षक निम्न-मध्यम वर्ग से सम्बन्ध रखते हैं। वे एक-जैसे स्कूलों और कॉलेजों में पढ़कर आए हैं।.... शिक्षकों में कुछ इतालवी, कुछ यहूदी और बहुत कम ही नीग्रो हैं — दो सौ शिक्षकों में से केवल एक ही नीग्रो है। बॉस्टन में एक-दो यहूदी प्रिंसिपल भी हैं। [बॉस्टन में 1966 में पहली बार कोई नीग्रो प्रिंसिपल बना।] परन्तु.... शिक्षा तंत्र के लगभग सभी उच्च अधिकारी बॉस्टन कॉलेज के स्नातक हैं। सभी निचले पदों से उठकर ऊपर आए हैं और सभी ने इस तंत्र में लगभग तीस साल बिताए हैं। सब की उम्र पचास साल से अधिक है और सभी कैथोलिक हैं, और शिक्षा के सुपरिटेंडेंट विलियम एच. ओहरेनबर्गर को छोड़कर बाकी सभी मूलतः आयरलैंड के हैं। •

श्रैग एक प्रसिद्ध कैथोलिक आलोचक के हवाले से कहते हैं कि बॉस्टन में सफल होने के लिए "आपको कैथोलिक होना ही पड़ेगा। किसी गैर-कैथोलिक को शिक्षा सुपरिन्टेंडेंट बनाने की बात सोची भी नहीं जा सकती। यह तंत्र पूरी तरह से बन्द है। यहाँ के लोग कभी बाहर नहीं जाते और वे बाहर से भी किसी व्यक्ति को अन्दर नहीं आने देते।"

इस तंत्र और उसके लोगों की, जैसी कि उम्मीद हम कर सकते हैं, एक ही प्रकार की सीख में श्रद्धा है — कि बच्चे पुराने तथा घिसे-पिटे तथ्यों को रटकर सीखें, चाहे उन तथ्यों का आपस में कोई भी सम्बन्ध न हो। शिक्षकों को भी प्रतियोगी परीक्षाओं में उनकी तथ्यों को रटने और उन्हें उगलने की क्षमता के आधार पर चुना जाता है। और बाद में ये शिक्षक इसी प्रणाली का अपनी कक्षाओं में उपयोग करते हैं। शायद श्रैग की पुस्तक का सबसे

दुखी खण्ड वह है जिसमें वे बॉस्टन के स्कूलों में होने वाली बातों को हूबहू उद्धृत करते हैं। अँग्रेज़ी की कक्षा में शिक्षक एक कविता "मृत्यु के साथ मेरी भेंट" (आई हैव ए रोंदेवू विद डेथ) पर चर्चा कर रहा है। शिक्षक पूछता है, "इस शब्द भेंट का क्या अर्थ है?"

उत्तरः [नियम के अनुसार लड़का खड़ा होकर कहता है] इसका मतलब है मिलना।

प्रश्नः यह मिलन कब होता है?

उत्तरः वसंत में।

प्रश्नः इन पंक्तियों में कवि मृत्यु की किस चीज़ से तुलना करता है?

उत्तरः एक व्यक्ति से।

प्रश्नः इसे क्या कहते हैं?

उत्तरः वैयक्तिकरण।

आदि, आदि। एक अन्य कक्षा पर नज़र डालें :

प्रश्नः जहाँ तक नेपोलियन की बात है इटली उसके लिए किस तरह से अच्छा था?

उत्तरः नेपोलियन वहाँ पर अपने रिश्तेदारों को ऊँचे ओहदों पर नियुक्त कर सकता था।

प्रश्नः नेपोलियन एक अच्छा, पारिवारिक आदमी था। उसे इटली में क्या मिला?

उत्तरः कलाकृतियाँ।

एक अन्य स्कूल में :

प्रश्नः क्या हमें क्रान्ति में सफलता मिली, फुट?

उत्तरः हाँ।

प्रश्नः हाँ, यह तो सही है.... उसके बाद सरकार गठित करने के लिए एक योजना बनानी पड़ी। उसका नाम क्या था?

उत्तरः संविधान।

प्रश्नः मैं तुम्हें कसकर सिर पर मारूँगा। [शिक्षक अपना हाथ उठाता है]

उत्तरः राजमण्डल के अनुच्छेद।

प्रश्नः ये क्या बला हैं? [पाठ्यपुस्तक के पन्ने पलटता है]

उत्तरः सरकार की हमारी पहली योजना।

आदि, आदि। एक अन्य में :

प्रश्नः वे कुत्तों की स्लेज से क्यों जाते हैं?
उत्तरः क्योंकि वहाँ पर बहुत-सी बर्फ है।
प्रश्नः माईकेल, तटवर्ती इलाके के पास की ज़मीन कैसी होती है?
उत्तरः पर्वत।
प्रश्नः वे तट पर क्या करते हैं?
उत्तरः शिकार करते हैं?
प्रश्नः वे किसी भी तट पर क्या करते हैं?
उत्तरः मछली पकड़ते हैं।

इन कक्षाओं की एक बात है जो आश्चर्य में डालती है। इनमें से एक चर्चा पाँचवीं, एक सातवीं, एक नौवीं और एक अन्य उच्च कक्षा के छात्रों के लिए है, परन्तु चर्चा की गुणवत्ता के आधार पर आप कक्षा का कोई अनुमान नहीं लगा सकते। अच्छे स्कूलों की पहली कक्षा की चर्चाएँ भी इससे कहीं अधिक सजीव, सहज, रोचक और बेहतर होती हैं।

इस प्रकार की शिक्षा के क्या नतीजे निकलेंगे उसका आसानी से अनुमान लगाया जा सकता है। एक ज़माने में वे छात्र जिन्हें चोटी के कॉलेजों में दाखिला मिलता था सबसे ज़्यादा बॉस्टन के स्कूलों से निकलते थे। परन्तु आज बॉस्टन के हाई स्कूलों से निकलने वाले छात्रों में से केवल एक-चौथाई ही किसी कॉलेज में दाखिला लेते हैं। श्रैग के आँकड़ों के अनुसार बॉस्टन के 93,000 स्कूली बच्चों में से केवल 4,454 हाई स्कूल पास कर पाते हैं। इससे पता चलता है कि हाई स्कूल में प्रवेश पाने वाले बच्चों में से बहुत से अपनी पढ़ाई पूरी नहीं कर पाते। बॉस्टन के स्कूलों से पास होने वाले छात्रों के ग्रेड सभी स्तरों पर राष्ट्रीय औसत से कहीं नीचे होते हैं और आगे जाकर ये ग्रेड और भी कम हो जाते हैं।

वैसे तो यह तंत्र कभी भी बहुत कल्पनाशील नहीं था परन्तु फिर भी कामचलाऊ था। किन कारणों से धीरे-धीरे इस तंत्र की ऊर्जा, आस्था और मनोबल कमज़ोर पड़ते गए? इस बारे में श्रैग एकदम स्पष्टता से कुछ नहीं कहते, परन्तु उनके अनुसार यह अवनति स्कूलों में पुराने अमरीकियों की जगह आइरिश कैथोलिकों की नियुक्ति के कारण हुई। यह निर्णय काफी सतही है और एक विशेष समुदाय की ओर इंगित करता है। पहली बात

तो यह है कि वर्तमान में शिक्षा में सबसे साहसी और कल्पनाशील प्रयोगकर्ताओं में से बहुत से कैथोलिक ही हैं। इसलिए कैथोलिकों द्वारा नियंत्रित स्कूलों में शिक्षा खराब ही होगी यह मानना गलत होगा। दूसरा, बॉस्टन में स्कूली शिक्षा का पतन एक प्रक्रिया का नतीजा है। इस पतन को उन स्कूलों में भी देखा जा सकता है जहाँ कैथोलिक आइरिश प्रभाव बहुत कम था या बिल्कुल भी नहीं था।

परन्तु मुझे श्रैग की जाँच में एक बात सच्ची लगती है। और यह केवल बॉस्टन में ही नहीं बल्कि हर जगह लागू होती है। वह यह है कि बॉस्टन तथा अन्य जगहों पर जिन शिक्षकों ने स्कूलों को पूर्व अमरीकियों से अपने हाथों में लिया वे सभी एक निम्न-मध्यम वर्गीय, गैर-बुद्धिजीवी, यहाँ तक कि बुद्धिजीवी-विरोधी पृष्ठभूमि से आए थे, और वे शिक्षा को भी प्रशासनिक सेवा का ही एक अंग मानते थे। वे शिक्षा के क्षेत्र में इसलिए नहीं आए थे क्योंकि शिक्षा में उनकी कोई रुचि थी या कि वे शिक्षा को महत्वपूर्ण मानते थे। न ही इसलिए कि शिक्षा ने उनके लिए कुछ किया था या वे कोई चीज़ खास तौर पर पढ़ाना चाहते थे। वे शिक्षा में इसलिए आए थे क्योंकि स्कूल एक ऐसी जगह थी जहाँ वे बिना किसी विशेष योग्यता, ट्रेनिंग और जान-पहचान के घुस सकते थे। और एक बार उनमें घुसने के बाद, यदि वे चुपचाप वह सब करते रहें जो उन्हें बताया जाए तो वे सेवानिवृत्ति तक आराम से अपना जीवनयापन कर सकते थे। दूसरे शब्दों में, लोग शिक्षा में उन्हीं कारणों से आए जिन कारणों से लोग पुलिस या पोस्ट-ऑफिस या प्रशासनिक सेवा के किसी दूसरे विभाग में भर्ती होते हैं। यानी शिक्षा विभाग की नौकरी सुरक्षित, आरामदेह और प्रतिष्ठित थी जिसके माध्यम से सामाजिक-आर्थिक सीढ़ी पर आसानी से कुछ और ऊपर चढ़ा जा सकता था।

ऐसे लोग, जो इस प्रकार के कारणों से शिक्षण में आते हैं, चाहे वे किसी भी जातीय या धार्मिक पृष्ठभूमि से हों, कभी अच्छे शिक्षक नहीं बन सकते। ऐसे शिक्षक गरीब बस्तियों के स्कूली बच्चों की कुछ भी सहायता करने में असमर्थ होंगे। एक ओर ऐसे शिक्षक सामान्यतः अपनी स्थिति को लेकर बेचैन रहते हैं और शायद इसी कारण वे कक्षा में सत्ता और नियंत्रण को अधिक महत्व देते हैं। वे हरेक व्यक्तिगत समस्या को अपनी सत्ता के खिलाफ चुनौती समझते हैं। दूसरी ओर, एडगर फ्राइडिनबर्ग के अनुसार, इन शिक्षकों के मूल्य और बर्ताव काफी बाज़ारू और व्यावसायिक होते हैं। इसलिए वे बच्चों के, खासकर गरीब बस्तियों के बच्चों के अधिक

अभिजातीय और अराजक मूल्यों और रवैयों के प्रति गहरी शत्रुता का भाव रखते हैं और उनसे खतरा महसूस करते हैं। एक अन्य बात भी है। ऐसे शिक्षक न तो रोचक होते हैं और न ही उनकी किसी शौक में रुचि होती है। वे शिक्षा को "आगे बढ़ने" का एक अस्त्र मानते हैं, और जीवन में अधिक आगे नहीं जा पाने के कारण ये शिक्षक अपने छात्रों को भी अधिक प्रेरित करने में असफल रहते हैं। उनके कहे और अनकहे सुझावों का बस एक ही सार होता है, "मेहनत से पढ़ोगे तो एक दिन तुम भी मेरे जैसा बनोगे।" उनके छात्र इसका चुपचाप (और हमेशा चुप रहकर नहीं) उत्तर देते हैं, "कम्बख्त, भला तुम्हारे जैसा कौन बनना चाहेगा?" क्योंकि ये शिक्षक हाल ही में गरीबी की रेखा से ऊपर उठे होते हैं, इसलिए वे गरीब बच्चों को भय, घृणा और हेय दृष्टि से देखते हैं। अपनी इन भावनाओं को वे चाहने के बाद भी छिपाने में असमर्थ रहते हैं।

शिक्षण का कार्य एक कठिन कार्य है। मुझे अपने शिक्षण के काम को बहुत ही अनुकूल परिस्थितियों में करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। मुझे खुद अपने तरीकों और सामग्री को चुनने और गढ़ने की पूरी छूट मिली। मेरी कक्षाओं में अक्सर कम ही छात्र होते थे जो अगर बहुत उत्सुक नहीं होते थे तो भी बात मानते थे। स्कूल का प्रशासन मेरी पद्धति को समझ नहीं पाता था और मेरी सहायता नहीं कर पाता था। फिर भी वे लोग मुझे कुछ स्वतंत्रता और सम्मान तो देते थे। मेरी शिक्षा में गहरी रुचि है और मुझे सभी बच्चों की संगत में आनन्द आता है। इसके बावजूद बच्चों को पढ़ाना मुझे बहुत कठिन काम लगता रहा है और अक्सर मैं इस काम से बेहद निराश और निरुत्साहित हो जाता हूँ। अगर यह एक प्रेरित व्यक्ति का हाल है तो जिन लोगों के लिए शिक्षण का काम महज़ एक नौकरी है, उनका क्या हाल होता होगा? उन्हें अपनी पूरी ज़िन्दगी केवल आदेशों का पालन करना होता है। उन्हें अपनी प्रेरणा, कल्पनाशीलता और बुद्धि को ताक पर रखकर, केवल काम करवाने वाले मैनेजर, पुलिसमैन और जज का रोल निभाना होता है। कागज़ों और फाइलों के पुलिन्दे कभी उनका पीछा नहीं छोड़ते और उन्हें तुच्छ प्रशासनिक काम करना होता है। हर रोज़ उन्हें ऊबे हुए और विद्रोही बच्चों का सामना करना होता है। शिक्षक को न तो अच्छी तनख्वाह मिलती है और न ही समाज में या शिक्षकों के अपने समुदाय में उचित सम्मान। शिक्षा की नौकरशाही में भी शिक्षक को हमेशा निचले दर्जे का मज़दूर या प्यादा समझा जाता है। ऐसे इंसान के लिए पढ़ाने का काम बेहद उबाऊ और कष्टदायक होता होगा। एक आदमी ने,

जिसे मैं पिछली गर्मियों में मिला था, शिक्षा में नवाचार पर एक भाषण को सुनकर मुझसे कहा, "मेरे विचार में यह काम तुम नौजवान लोगों को ही करना होगा। मैं तो चालीस साल का हूँ और इसीलिए पूरी तरह खत्म हो चुका हूँ।" एक सेकेण्ड के लिए मुझे आश्यर्च हुआ, परन्तु बाद में मैं उसकी बात को समझ पाया। उसे अपने परिवार के भरण-पोषण के लिए सारी ज़िन्दगी दो नौकरियाँ करनी पड़ी थीं – पढ़ाने के साथ-साथ एक और नौकरी।

इस प्रकार के लोग अपने आप में हीरो हैं। उनके जीवन भर के संघर्ष के लिए हमें उनका आदर करना चाहिए। हमें अपने आपसे यह भी पूछना चाहिए – हम जो शिक्षा तंत्र के सख्त, संकीर्ण और सत्तावादी होने की दुहाई देकर ठीक ही करते हैं – कि स्वतंत्रता ऐसे लोगों के लिए क्या मायने रखती है या रख सकती है जिन्हें लगता है कि वे न तो पहले कभी स्वतंत्र थे और न ही अब हैं। यह ठीक है कि इनमें से कई "स्वतंत्रता" की रक्षा के लिए तर्क करने, लड़ने और यहाँ तक कि मरने (और बाकी सब को मारने) को भी तैयार हैं। पर इसका केवल यही मतलब है कि उन्हें इस बात का डर है कि किसी अन्य देश में उन्हें और भी अधिक काम करना पड़ेगा और उन्हें यहाँ से भी कम मुआवज़ा मिलेगा। इसलिए अगर उन्हें गुलामी करनी ही है तो उसके लिए यही सर्वश्रेष्ठ जगह है।

इस प्रकार के लोगों से अपेक्षा करना कि वे स्वतंत्रता को एक मूल्य के तौर पर समझ पाएँगे और उसकी रक्षा करेंगे, उसके लिए लड़ेंगे और उसका पोषण करेंगे, बहुत उचित नहीं होगा। स्वतंत्रता को वे अधिक से अधिक एक महँगी वस्तु समझते हैं जिसे वे कभी खरीद नहीं पाए हैं। इसलिए यह हैरानी की बात नहीं कि वे स्वतंत्रता चाहने वाले लोगों – और उनमें बहुत से बच्चे शामिल हैं – को नापसन्द करते हैं। इतना ही नहीं, वे स्वतंत्रता को खतरा मानते हैं। उनके लिए स्वतंत्रता से लोग हमेशा मुश्किलों में फँसते हैं। अभी कल ही एक शिक्षक ने मुझसे कहा, "जैसे ही हम बड़े होते हैं, समाज हमें एक साँचे में ढालकर हमारे ऊपर एक ठप्पा लगा देता है।" (यह कहते हुए उसने अपने हाथों से अण्डों की क्रेट के ऊपर ठप्पा लगाने का अभिनय किया।) "और जो इसमें फिट नहीं होता है उसे दुत्कार दिया जाता है। आपके तरीके से जो बच्चे पढ़ेंगे उनका क्या होगा? वे ज़िन्दा कैसे रहेंगे?" इसी तर्ज़ पर कभी किसी ने यह लिखा था, "जो गाय दूध निकालने का बहिष्कार करे वह जल्द ही लम्बी नींद सो जाएगी।" बहुत से शिक्षक इसी प्रकार का नज़रिया रखते हैं। चुप बैठो।

जो बताया गया है उसे ही करो। बाल्टी को धक्का मारकर उलटाओ मत।

यह स्वाभाविक है कि इनमें से कई लोग धीरे-धीरे उस चीज़ का एक खराब उदाहरण बन गए हों जिसका चित्रण एडमंड टेलर ने अपनी बढ़िया पुस्तक *रिचर बाई एशिया* में किया है। इसमें वे साहिब-रोग का ज़िक्र करते हैं। इसमें मन में ऐसा पक्का विश्वास हो जाता है कि जिन लोगों की आप कभी मदद करने निकले थे, उनकी मदद की ही नहीं जा सकती और असल में वे मदद के काबिल भी नहीं हैं। इसी तरह के विश्वास के कारण बहुत से शिक्षक अपने काम और जीवन में जिन व्यर्थताओं और कुण्ठाओं को महसूस करते हैं, वे उन्हें उन बच्चों के प्रति सक्रिय घृणा और नफरत में बदल देते हैं जिन्हें वे पढ़ाने के लिए आए थे। अपनी पुस्तक में जोनाथन कोज़ोल ने दर्शाया है कि यह घृणा कितनी आगे चली गई है और उसके कितने वीभत्स नतीजे निकले हैं। एक वर्ष रॉक्सबरी के स्कूलों में किसी स्थायी शिक्षक के स्थान पर पढ़ाने के दौरान उन्होंने जो कुछ देखा, सुना और कहा उसे उन्होंने इस पुस्तक में सँजोया है। अपनी पुस्तक में उन्होंने नामों और पतों को बदल दिया है जिससे कि किसी विशेष स्कूल या शिक्षक को पहचान पाना असम्भव हो जाए। उनकी बाकी कहानी पूरी तरह सच है।

यह कहानी अविरत निर्दयता और क्रूरता की एक अविश्वसनीय कथा है। उनकी पुस्तक में प्रमुख शिकार — और केवल वही नहीं — स्टीफन नाम का नीग्रो लड़का है। "वह आठ वर्ष का है...। छोटा-सा, दुखी और बीमार। ...वह एकदम भीरू प्रकृति का बच्चा है। ...मैसाच्यूसेट्स की सरकार ही उसकी देखभाल करती है। हर रोज़ वह स्कूल आने से पहले ही बुरी तरह पिटता है।" इस मासूम, निरीह, छोटे से बच्चे को किस तरह लताड़ा जाता है, उसे किस तरह बेइज़्ज़त किया जाता है, इस चीज़ का वर्णन करना भी असम्भव है। उसे चित्रकारी में मज़ा आता है और वह बहुत कल्पनाशील तस्वीरें बनाता है। परन्तु क्योंकि कला की शिक्षक को उसे दिए गए चित्रों में रंग भरवाना ही अच्छा लगता है, इसलिए स्टीफन का काम देखकर वह उस पर दहाड़ती है। हम यह न भूलें कि स्टीफन केवल आठ वर्ष का है। "मुझे अपना चित्र दो! तुम्हारे रंग चारों तरफ फैले हैं! देखो, तुमने यह क्या किया! फिर सारे रंगों को आपस में मिला दिया! मुझे नहीं पता कि हम इस धूर्त बच्चे पर क्यों कागज़ बर्बाद कर रहे हैं! ...कचरा! बेकार! और कचरा एक ऐसी चीज़ है जो मैं स्वीकार नहीं करूँगी।" हालाँकि स्टीफन के शिक्षकों को पता था कि वह पहले से ही

दुखी था, कि उसका अपने दिमाग पर नियंत्रण नहीं था, और वे अक्सर ऐसा कहते भी थे, परन्तु उसके बावजूद वे उसे बाँस की लचीली, लम्बी सोंटी से हाथ पर मारते थे। कोज़ोल के अनुमान के अनुसार, "कुछ समय के लिए यह पिटाई महीने में एक बार तो अवश्य होती थी, और शायद उससे ज़्यादा बार, शायद हफ्ते में एक-दो बार।" एक अन्य बच्चे को भी, जिसकी उँगली में चोट थी, बाँस की छड़ी से हाथ पर मारा गया। इससे उसकी उँगली की चोट इतनी गम्भीर हो गई कि अगले कई दिन उसे अस्पताल में गुज़ारने पड़े। जब उस बच्चे की माँ ने स्कूल के प्रशासन से इसकी शिकायत की तो उन्होंने उस पिटाई को "सही" करार दिया। स्कूल के प्रशासन ने एक काम और किया। उन्होंने इस बच्चे को "जल्दी ठीक होने" का एक कार्ड अस्पताल में अवश्य भेजा।

यह घटना एकदम वीभत्स लगती है। लगता है किसी ने झूठ-मूठ की कहानी रच दी हो। अब देखिए कि बच्चों को छड़ी से मारने के बारे में शिक्षकों की क्या राय है : "जब आप मारते हैं तो आप कसकर, पूरा दम लगाकर मारते हैं, नहीं तो उस सज़ा का बच्चे पर कोई असर ही नहीं होगा।" "बेंत को रात भर सिरके या पानी में डुबोने से पिटाई के समय बच्चे के हाथ में मिर्ची जैसी लगती है।" जब कोज़ोल ने पूछा कि क्या इस प्रकार की पिटाई कानून के खिलाफ थी तो एक शिक्षक ने कहा, "कानून की चिन्ता मत करो। बस इस बात का ध्यान रखो कि मारते हुए कोई तुम्हें देखे नहीं।" एक अन्य शिक्षक ने उसे सलाह दी कि बच्चे को हमेशा अकेले में मारो, जब कोई देख नहीं रहा हो, और यह सुनिश्चित करो कि उसके शरीर पर चोट का कोई निशान न हो। इससे अगर कभी कोर्ट-कचहरी में भी मामला पहुँच गया तो तुम उससे साफ इंकार कर सकते हो। एक बार दो बच्चों ने अपना होमवर्क शिक्षक को जमा कर दिया था। इतने सारे कागज़ों में इन बच्चों का होमवर्क कहीं छिप गया या खो गया। (शिक्षकों के अन्तहीन तबादलों के कारण ऐसी चीज़ें होती ही रहती हैं।) तब शिक्षक ने इन दोनों बच्चों को कक्षा में सामने बुलाकर उन्हें डाँटा और उन पर झूठ बोलने का इल्ज़ाम लगाया। इस प्रकार की अन्य बहुत सारी घटनाएँ।

मैं खुद से पूछता हूँ, "क्या ये वीभत्स कहानियाँ सच हो सकती हैं? कहीं ऐसा तो नहीं कि कोज़ोल ने अपने गुस्से और अपनी नफरत की वजह से इन घटनाओं को बढ़ा-चढ़ाकर लिख दिया हो? क्या वह सच में इनका साक्षी है?" इसमें कोई शक नहीं कि वह इनका साक्षी है। स्कूल उसे

मुसीबत खड़ा करने वाला करार देते हैं, पर इस इल्ज़ाम का कोई मतलब नहीं। यह बात साफ है कि कोज़ोल ने मुसीबत से बचने के लिए प्रशासन के सामने शर्मनाक हद तक अपने घुटने टेके, और उनके आदेशों के मुताबिक काम किया। तंत्र से लड़ने की बजाय उसने लड़ाई से बचने के भरसक प्रयास किए, उससे कहीं ज़्यादा जो उसे करने चाहिए थे। उस बच्चे को कौन भूल सकता है जो बतौर सज़ा "कई हफ्तों तक उसकी कक्षा" के दरवाज़े पर खड़ा रहा, और चुपचाप, शान्ति से अन्दर आने की निरर्थक प्रार्थना करता रहा? मैंने खुद बहुत से नीग्रो लड़कों को बातें करते हुए सुना है। वे कटुता से नहीं बल्कि मज़ाक में बॉस्टन स्कूलों के किस्से सुनाते हैं, उन पुराने सैनिकों की तरह जो उन कठिन मुठभेड़ों को याद करते हैं जिनमें वे शामिल थे — शिक्षकों का उन पर चिल्लाना, उन्हें गाली देना, दीवार पर पटक देना और छड़ी से मारना। इस सब से लगता है कि कोज़ोल सच कह रहे हैं, हालाँकि शायद पूरा सच नहीं। जैसा कि वे कहते हैं, बॉस्टन के सरकारी स्कूलों में कम-से-कम नीग्रो बच्चों के साथ बहुत ही बेहूदा, निर्दयी और क्रूर व्यवहार होता है।

परन्तु कोज़ोल एक और कहानी भी सुनाते हैं जो एक तरह से इससे भी अधिक महत्वपूर्ण है। यह कहानी उन चीज़ों के बारे में है जिन्हें नीग्रो बच्चों के साथ करने की अनुमति उन्हें *नहीं* मिली। ये वही चीज़ें थीं जिन्हें अन्य शिक्षकों को उसी स्कूल में कुछ गोरे बच्चों के साथ करने की अनुमति थी। उदाहरण के लिए, भाषा के शिक्षक ने एक गोरे बच्चे को एक महँगी पुस्तक दी, दूसरे की ग्रीष्म कैम्प जाने में मदद की, और एक तीसरी बच्ची और उसके पालकों को मिलने के लिए बुलाया। परन्तु जब कोज़ोल ने एक नीग्रो बच्चे को उसके घर छोड़ा, या फिर वह स्टीफन को पीबॉडी म्यूज़ियम दिखाने ले गया, या फिर मिलने के लिए उसके घर गया, तो उसे इन बातों के लिए फटकार मिली। कोज़ोल को आगाह किया गया कि वह कक्षा में स्टीफन को अपने पास न आने दे। इस प्रकार स्टीफन जैसे निरीह बालक के सिर्फ एक मित्र खोजने के सभी प्रयासों को विफल कर दिया गया।

एक और महत्वपूर्ण बात है। जब भी कोज़ोल अपने शिक्षण द्वारा बच्चों की रुचि जगाने और उन्हें प्रेरित करने में सफल हुआ, उसे रोक दिया गया। उसने बच्चों के लिए इतिहास के विषय पर कुछ पूरक सामग्री तैयार की थी जिससे बच्चों को कपास कातने की मशीन और गुलामी के बीच का सम्बन्ध स्पष्ट रूप से समझ में आता। उसे बच्चों को यह सामग्री देने

से रोक दिया गया। उसे *मेरी जेन* नामक पुस्तक का उपयोग करने से रोका गया। यह पुस्तक उस दक्षिणी शहर के बारे में है जहाँ पहली बार एक नीग्रो बालक किसी गोरे स्कूल में जाता है। इस पुस्तक को बच्चे, वे भी जो पढ़ने में कमज़ोर माने जाते थे, बेहद रुचि लेकर पढ़ रहे थे। इसके बावजूद इस पर पाबन्दी लगी। बहुत से बच्चे मार्टिन लूथर किंग, जूनियर, की जीवनी पढ़ने के बहुत इच्छुक थे। परन्तु इस पुस्तक को पढ़ने की अनुमति नहीं दी गई। कोज़ोल ने बच्चों को एक कार्य दिया जिसमें वे दुनिया का वर्णन उस तरह से कर सकते थे, जैसी वह उन्हें दिखाई देती थी। बच्चों ने अपने आसपास के जीवन के सुन्दर वर्णन लिखे। परन्तु इस काम के लिए कोज़ोल की गहरी आलोचना हुई। पॉल क्ली के कुछ चित्रों ने बच्चों को अपनी ओर आकर्षित किया। परन्तु इस दलील पर कि ये चित्र बच्चों के स्तर से ऊपर के थे, उन्हें दिखाने की इजाज़त नहीं मिली। कोज़ोल बच्चों को येट्स और फ्रॉस्ट की कविताएँ सुनाते थे, और बच्चों को उन्हें सुनने में बहुत आनन्द आता था। इन पर भी पाबन्दी लगी। अन्त में कोज़ोल को लैंग्स्टन ह्यूज़ की एक कविता "ज़मींदार" पढ़कर सुनाने के आरोप में स्कूल से निकाल दिया गया। बहुत से बच्चों को यह कविता इतनी पसन्द आई कि उन्होंने उसे कण्ठस्थ कर लिया।

सच्ची बात तो यह है कि कुछ अपवादों को छोड़कर हमारे शहरों के बस्तियों के स्कूलों ने, उनमें पढ़ने वाले गरीब, निरीह बच्चों की तरह ही, जानबूझकर असफल होने की रणनीति को अपना लिया है। इस असफलता में इन स्कूलों का निहित स्वार्थ है। ये स्कूल न तो खुद सफल होना चाहते हैं और न ही किसी और स्कूल को सफल होने देना चाहते हैं। अभी तक मैं कई शहरों से ऐसे कई अनुभवों के बारे में पढ़ या सुन चुका हूँ जहाँ शिक्षक बस्तियों के गरीब बच्चों तक पहुँचने और उन्हें पढ़ाने में सफल हुए हैं। हर बार प्रशासन ने इन शिक्षकों के सामने लगातार मुसीबतें खड़ी कीं, और कुछ समय बाद उन्हें नौकरी से बर्खास्त कर दिया गया। ऐसा होने की उम्मीद भी की जा सकती है। हमारे शहरी स्कूल जितना कम काम करते हैं, उन्हें इस काम के असम्भव होने का उतना ही बड़ा बहाना बनाना पड़ता है। इसलिए अगर कोई कर्मठ शिक्षक गरीब बच्चों को सफलतापूर्वक पढ़ाने के कार्य में सफल होता है तो उससे पूरा तंत्र थरथराता है और उसके आत्मसम्मान को धक्का लगता है। उससे उनका यह मत टूटता है कि गरीब शहरी बच्चों को पढ़ाना सम्भव नहीं है।

कोज़ोल की आवाज़ में हमें बच्चों की सहायता के लिए चीत्कार भी सुनाई

देती है। हम उनकी किस प्रकार मदद कर सकते हैं? यहाँ श्रैग कुछ ऐसा रुख अपनाते हैं जिसके लिए कोई सहानुभूति जुटा पाना मुश्किल होगा। वे बच्चों को बचाने के लिए बॉस्टन में चल रहे कुछ प्रयासों का वर्णन करते हैं : ऑपरेशन एक्सोडस, जिसमें नीग्रो माता-पिता अपने खर्च पर अपने बच्चों को बस द्वारा दूर-दराज़ के गोरी आबादी वाले इलाकों में कम भीड़ वाले स्कूलों में पढ़ने के लिए भेज रहे हैं; मेटको प्रकल्प, जिसके अन्तर्गत कुछ प्रतिशत नीग्रो बच्चों को चन्द बाहरी इलाकों के गोरे बच्चों के स्कूलों में दाखिला मिलता है; बोर्डमैन स्कूल, जहाँ स्कूली तंत्र को कुछ प्रयोग और नवाचार करने की छूट है; और न्यू स्कूल फॉर चिल्ड्रन, एक निजी स्कूल जिसका संचालन नीग्रो लोग स्वयं करते हैं। इनमें से अधिकांश मध्यमवर्गी हैं और स्कूल चलाने के लिए अधिकांश पैसा बाहर से आता है। इन सब नवाचारों और प्रयोगों का श्रैग खण्डन करते हैं। उनके अनुसार ये प्रयोग "असली समस्या" से ध्यान हटा रहे हैं, और उस आक्रोश, ऊर्जा और पैसे को शक्तिहीन बना रहे हैं जो मिलकर इस समस्या का निदान कर सकते हैं। श्रेग का मानना है कि इससे स्थिति और भी बिगड़ सकती है।

वर्तमान समय में चीज़ों को देखने का यह सामान्य तरीका है। हम समस्याओं के ऊपर से थोपे, भारी-भरकम हल पसन्द करते हैं। हम सब सामान्य कर्मचारियों की मानसिकता से ग्रस्त हैं। यहाँ हम इस मानसिकता को कई मुद्दों पर चुनौती दे सकते हैं। पहले तो श्रैग की मान्यता काफी निर्दयी है, हालाँकि वे नहीं चाहते हैं कि वह ऐसी हो। यह उसी तरह से है जैसे कुछ लोग झील में डूबते एक आदमी की जान बचाने में लगे हों और उनसे कहा जाए कि वे "असली समस्या" से ध्यान हटा रहे हैं। यहाँ "असली समस्या" क्या है? उस झील में से सारा पानी निकालना, जिससे वह सूख जाए और उसमें कोई कभी न डूबे? अगर यह सच भी हो, तो इससे क्या होता है? दूसरी बात यह है कि हम प्रत्यक्ष को अनदेखा कर रहे हैं। वह यह है कि हम जब कभी भी नीग्रो बच्चों के शिक्षण के तरीके खोजते हैं – चाहे यह उनकी अपनी बस्तियों के निजी या सरकारी स्कूलों में हो या फिर बाहर गोरों के स्कूलों में – हर बार हम इस मिथक को तोड़ते हैं कि नीग्रो बच्चे पढ़ने में असमर्थ हैं। इस तरह हम यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि अगर नीग्रो बच्चे सरकारी स्कूलों में पढ़ना सीख नहीं पा रहे हैं तो इसकी ज़िम्मेदारी न तो बच्चों की है और न ही उनके परिवारों की। इसकी पूरी ज़िम्मेदारी स्कूलों की है। एक तीसरी बात भी है जिसमें

श्रैग की गहरी आस्था है – इसमें पूरे ज़िले के शहरी और ग्रामीण स्कूलों को जोड़ने की महानगरीय परियोजना की कल्पना है। परन्तु यह योजना राजनैतिक रूप से मृत है। 1967 की गर्मियों में कुछ राष्ट्रीय शिक्षाविदों ने इस स्कीम पर कई दिनों तक विस्तृत चर्चा की। सभी शिक्षाविद् सर्वसम्मति से एक ही मत पर पहुँचे, कि पिट्सबर्ग को छोड़कर बाकी किसी भी बड़े शहर में यह महानगरीय परियोजना कारगर साबित नहीं होगी। पहले तो शहर के बाहरी इलाकों ने इस परियोजना का शुरू से ही विरोध किया है, और इसके कारण साफ और स्पष्ट हैं। इस इलाके के एक सुपरिन्टेंडेंट, जो अपने स्कूल में शहर के कुछ नीग्रो बच्चों को दाखिल करते हैं और जिनका श्रैग काफी आदर करते हैं, ने स्पष्ट शब्दों में कहा, "हमारे स्कूल का बोर्ड ऐसा कोई फैसला नहीं लेगा जिससे उसका खुद का अस्तित्व ही खत्म हो जाए।"

यह ठीक भी है। अच्छे और खराब स्कूल बोर्ड अपनी-अपनी स्वायत्तता से चिपके रहेंगे, इसी वजह से कि वे अच्छे या खराब हैं। श्रैग को लगता है कि बॉस्टन के लोग बॉस्टन और बाहरी इलाकों में स्थित स्कूलों को आपस में जोड़ने के पक्ष में वोट देंगे। परन्तु ऐसा होगा नहीं। पूर्व में बॉस्टन के लोगों ने श्रीमती हिक्स (एक समय में स्कूल कमेटी की चेयरमैन, जो मेयर के पद के लिए चन्द वोटों से हारीं) को इसलिए वोट दिया था क्योंकि वे उन्हें अपने में से एक समझते थे। इसलिए यह स्पष्ट है कि श्रीमती हिक्स और उन जैसे लोग शहरी और ग्रामीण स्कूलों को आपस में जोड़ने के पक्ष में नहीं होंगे।

अन्त में, स्वयं नीग्रो समुदाय महानगरीय परियोजना के खिलाफ होता जा रहा है, यहाँ तक कि स्कूलों के एकीकरण के खिलाफ भी। उनका कहना है कि अगर वे अपने बच्चों को इन सबसे अच्छे स्कूलों में भेजते भी हैं तो *अधिक-से-अधिक* वहाँ के गोरे शासक उनके बच्चों के साथ कुछ अच्छा व्यवहार करेंगे और हो सकता है उन्हें एक-आध टुकड़ा भी दे दें। उनमें से अधिकांश चाहते हैं कि नीग्रो लोग ही नीग्रो बच्चों के लिए स्कूल चलाएँ। और अब जो हालात बने हैं उनमें शायद यह सम्भावना सच भी हो सकती है। यह सम्भावना इतनी ज़्यादा है कि कुछ लेखकों ने तो यहाँ तक लिखना शुरू कर दिया है कि अगर महानगरीय परियोजना कभी लागू हुई तो वह नीग्रो लोगों के पक्ष में नहीं, बल्कि उनके खिलाफ होगी। यानी इस परियोजना के बाद नीग्रो लोग शिक्षा के क्षेत्र में कभी भी सच्ची और कारगर राजनैतिक सत्ता हासिल नहीं कर पाएँगे।

इसलिए कुछ समय के लिए तो महानगरीय परियोजना एकदम निरर्थक है। ऐसी स्थिति में, रॉक्सबर्ग और देश के तमाम बड़े शहरों की झुग्गी-झोंपड़ियों में रहने वाले नीग्रो बच्चे सहायता के लिए कहाँ जाएँगे? मेरे विचार में, ऐसी तीन जगहें हैं। पहले तो अगर हम गोरे लोगों को एकीकरण के मुद्दे पर अधिक नहीं सताएँ तो वे धीरे-धीरे इस सच्चाई को ज़रूर समझेंगे कि उनके वर्तमान स्कूल न केवल नीग्रो बच्चों के लिए, बल्कि गोरे बच्चों के लिए भी अच्छे नहीं हैं। इसके बाद वे उन स्कूलों को बेहतर और अच्छा बनाने के बारे में सोच सकते हैं। (बॉस्टन और कुछ अन्य शहरों में ऐसा होने के कुछ सकारात्मक चिन्ह दिखाई देने लगे हैं।) यहाँ पर हमें श्रैग की हिम्मत और उनके न्यायसंगत और सही नज़रिए की दाद देनी ही पड़ेगी। उनके अनुसार मैसाच्यूसेट्स में नस्लों के बीच गैरबराबरी के नियमों (रेशियल इम्बैलेंस लॉ) को उन धनी लोगों की एक माँग के रूप में देखा जा सकता है (और बॉस्टन में कई लोग इन्हें इसी तरह देख रहे हैं) जो खुद नीग्रो लोगों से मिलने से कतराते हैं। इन नियमों में निहित माँग यह है कि जो गरीब हैं वे नीग्रो समुदाय से और अधिक मिले-जुलें। यह माँग सही नहीं है और असली बात यह है कि इसका क्रियान्वन ही सम्भव नहीं है। अगर उदार गोरे लोग चाहें, और उन्हें यही करना चाहिए, तो वे पृथक्करण की नीति का आवास के क्षेत्र में विरोध कर सकते हैं — जहाँ वे रहते हैं। नीग्रो बच्चों को चार्ल्सटाउन, साउथ बॉस्टन और नार्थ एण्ड के निचले मध्यम वर्ग वाले स्कूलों में कैसे दाखिल किया जाए इस बात को हम अभी भूल जाएँ। हम अभी वयस्क नीग्रो लोगों और उनके बच्चों को बाहरी, धनी इलाकों, जैसे मिल्टन, न्यूटन या वेल्सली, में बसाने की बात सोचें। अगर हम अन्त में स्कूलों में एकीकरण के लक्ष्य को प्राप्त करना चाहते हैं — जो कि अन्ततः होना ही चाहिए — तो उसके लिए गोरे लोगों को ऊपर बताए तरीके के अनुसार ही काम करना चाहिए।

इस दौरान हमारे शहरों के लोग स्कूलों को बेहतर बना सकते हैं। अब तक बहुत से अमरीकी शिक्षाविदों ने इंग्लैण्ड में लीचेस्टरशायर स्थित स्कूलों को देख लिया है। इन स्कूलों में पुरानी और खराब डिज़ाइन की इमारतों, कम बजट और हर कक्षा में चालीस बच्चे होने के बावजूद गरीब तबकों के बच्चों को अव्वल दर्जे की शिक्षा दी जाती है। अगर हम चाहें तो हम उनसे बहुत कुछ सीख सकते हैं। जिन परिस्थितियों का कोज़ोल ने वर्णन किया है उनमें भी कुछ अच्छा किया जा सकता है। वे लिखते हैं, "जो छात्र पढ़ सकते थे वे अलमारियों में रखी किताबें देखकर ऊब गए

और उन्होंने खुद को बेइज़्ज़त महसूस किया।" परन्तु उनसे हम यह क्यों न पूछें कि वे ऊब क्यों गए थे और उन्होंने अपने आपको बेइज़्ज़त महसूस क्यों किया, और उसके आधार पर हम अच्छी और खराब पुस्तकों के बीच के अन्तर क्यों न खोजें? अगर स्कूल की पाठ्यपुस्तकें पुरानी हो गई हैं तो हम उनकी सामयिक सामग्री से तुलना क्यों न करें? पुरानी किताबें जब छपी थीं तबसे दुनिया बहुत बदल गई है। यह काम कोई खास महँगा नहीं पड़ेगा। और अगर स्कूलों के पास अच्छी पुस्तकें नहीं हैं तो क्यों न हम पुरानी किताबों की दुकानों से 10-15 सेंट की बच्चों की बढ़िया, सेकण्ड-हैंड किताबें खरीदें? इस प्रकार की दुकानें हर बड़े शहर में होती हैं। इससे भी बेहतर यह होगा कि हम छात्रों को ही पैसे दें और उनसे कहें कि वे खुद बाज़ार जाकर किताबें खरीदें। एक स्कूल के बारे में कोज़ोल कहते हैं, "स्कूल में बच्चे लगभग एक-तिहाई समय खेल के मैदान में घूमते हुए बिताते हैं..." परन्तु बंजर-से-बंजर मैदान में भी सिर्फ घूमने के अलावा भी बच्चे कई चीज़ें कर सकते हैं। और अगर हम कसरत के लिए जिम या तैरने के लिए ताल के सपने लेना छोड़ दें तो हम अन्य कई विकल्पों के बारे में सोच सकते हैं। संक्षेप में, अगर हम बहाने-बाज़ी करना छोड़ दें और अपने सीमित साधनों से कुछ करने की ठान लें तो हम बहुत कुछ कर पाएँगे।

एक अन्य बात जो नीग्रो लोग कर सकते हैं – और उन्होंने ऐसा करना शुरू कर भी दिया है – वह यह है कि वे अपने बच्चों की शिक्षा के लिए खुद अपने स्कूल चलाएँ। वैसे तो रॉक्सबरी के द न्यू स्कूल फॉर चिल्ड्रन को चलाने वाली संस्था शहरों के आम नीग्रो लोगों के स्तर से कहीं अधिक धनी है, पर फिर भी यह कदम एक सही दिशा में है। बॉस्टन स्थित रॉक्सबरी सामुदायिक स्कूल, जहाँ गरीब बच्चों को शिक्षा मिलती है, भी एक अच्छी पहल है। चिल्ड्रंस कम्युनिटी नाम की संस्था अब कई सालों से ऍन आर्बर, मिशिगन में बहुत कम खर्चे में अपना काम कर रही है। हालाँकि अगर इस संस्था को अब कहीं से कुछ अनुदान नहीं मिला तो इसके बन्द होने का अन्देशा है। इसी प्रकार बर्कले, कैलिफोर्निया का मार्टिन लूथर इन-कम्युनिटी स्कूल और अन्य कई संस्थाएँ अच्छा काम कर रही हैं।

अन्त में, अब हमें नीग्रो लोगों द्वारा किया जा रहा अच्छा काम नज़र आने लगा है, जैसा काम उन्होंने हारलेम और न्यू यॉर्क के कई अन्य भागों में

किया है। पूरे शिक्षा तंत्र को संचालित नहीं कर पाने के बावजूद वे अपने पास-पड़ोस के स्कूलों पर अपना नियंत्रण कायम कर रहे हैं। वे ऐसे संवेदनशील प्राध्यापकों और शिक्षकों का चयन कर रहे हैं जो नीग्रो बच्चों की समस्याओं को समझेंगे, उनका आदर करेंगे और उनकी ज़रूरतों को पूरा करेंगे। बच्चों में स्वाभिमान, आत्मविश्वास और शिक्षा तथा विकास के प्रति उत्साह जगाएँगे। सीखने के प्रति उत्साह केवल उन लोगों में ही जग सकता है जो खुद को एक प्रभावी समुदाय के हिस्से के तौर पर महसूस कर सकें। इस प्रकार के प्रयास शुरू हुए हैं परन्तु उनके सामने अभी अनेक चुनौतियाँ हैं। इन प्रयासों में मुझे कुछ भी नकारात्मक फिज़ूलखर्ची नहीं लगती, बल्कि ये तो उसके एकदम विपरीत हैं। ये बिल्कुल करने योग्य हैं, क्योंकि वे शिक्षा की समस्याओं का सीधे-सीधे सामना करते हैं, खास तौर पर जहाँ ये समस्याएँ मुश्किल और गम्भीर हैं।

लीचेस्टरशायर के सबसे गरीब बच्चे शायद आज इंग्लैण्ड में सबसे बेहतर शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं। जो लोग हमारे यहाँ शिक्षा तंत्र में परिवर्तन लाने की कोशिश कर रहे हैं, उनका उद्देश्य किसी भी तरह से इससे कम महत्वाकांक्षी नहीं होना चाहिए कि अमरीका के नीग्रो बाहुल्य शहरों के सबसे गरीब बच्चों को देश की सबसे अच्छी शिक्षा उपलब्ध हो।

— 1967

गम्भीर समस्या का मज़ाकिया सच

द वे इट स्पोज़्ड टू बी, लेखक जेम्स हेरंडॉन

जेम्स हेरंडॉन एक शिक्षक हैं। कुछ साल पहले उन्होंने एक वर्ष के लिए एक गरीब बस्ती के जूनियर हाई स्कूल में पढ़ाया। यह कहानी उस वर्ष की है। मैंने बच्चों, खासकर शहरी गरीब बच्चों को पढ़ाने से सम्बन्धित जितनी भी किताबें पढ़ी हैं उनमें यह पुस्तक सर्वश्रेष्ठ है। यह पुस्तक बस्ती के गरीब स्कूलों की समस्याओं की जड़ में जाती है : बच्चों तक पहुँचने में उनकी भयावह असफलता, स्कूलों में रटने पर ज़ोर और ऊपर से थोपा गया अनुशासन जिससे बच्चों में निराशा और विद्रोह बढ़ता है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह इस विषय पर सबसे मज़ाकिया पुस्तक भी है। हेरंडॉन एक प्रतिभाशाली हास्य लेखक हैं। उनकी आँखें और कान उनके पास हो रही घटनाओं को सटीक ढंग से पकड़ते हैं और उन्हें हमारे

सामने प्रस्तुत कर देते हैं। उनके वर्णन हास्य और व्यंग्य से ओत-प्रोत हैं; उदाहरण के लिए जब वे "धप् प्रतिक्रिया" का वर्णन करते हैं, उनकी छात्राओं का छुपा हथियार : अचानक किसी बाधा का सामना होने पर वे हमेशा खुद को पीछे की ओर सरकाते हुए धप्-से ज़मीन पर गिर जाती हैं। पर हेरंडॉन कभी अपने स्कूल, छात्रों और अच्छी नीयत वाले परन्तु अकुशल प्रधानाध्यापक को अपने व्यंग्य का स्रोत नहीं बनाते हैं। सभी हास्य लेखकों की तरह हेरंडॉन बहुत ही गम्भीर लेखक हैं। सबसे अच्छे व्यंग्य करते समय ही वे सबसे अधिक गम्भीर होते हैं। *द वे इट स्पोज़्ड टू बी* नामक पुस्तक *अप एण्ड डाउन स्टेयरकेस* से कहीं अधिक मज़ाकिया है क्योंकि वह अधिक गम्भीर, ईमानदार और गहरी है, और बच्चों के प्रति चिन्तित है।

वर्तमान और भविष्य के शिक्षकों के लिए यह पुस्तक बहुत अधिक सहायक सिद्ध हो सकती है। अगर कोई पुस्तक कक्षा में कुछ विलक्षण लोगों के करिश्मों का बयान करती है तो उससे हमें कुछ अधिक लाभ नहीं होता। उनसे हमें डर लगता है और हम बहानों के अम्बार में और भी गहरे अपना सिर छिपाकर कहते हैं – हम तो साधारण लोग हैं, और हमारे बच्चे हमसे भी गए-गुज़रे हैं। परन्तु हेरंडॉन ने कोई करिश्मा नहीं दिखाया। उन्होंने केवल बरसों की निराशा और विद्रोह के बाद अपने छात्रों को खुद पढ़ने के लिए प्रेरित किया। उन्होंने पहले कभी पढ़ाया नहीं था और उनके पास कोई विशेष प्रशिक्षण और हुनर भी नहीं था। जो हेरंडॉन ने किया उसे करने की क्षमता हम में से हरेक में है – अगर हम उसे करना चाहें तो। उनके छात्र गरीब, नीग्रो, शहरी बच्चे थे, जो अन्य बच्चों की तरह ही उजड्ड और कठोर थे। हर्बर्ट कोह्ल (*36 चिल्ड्रन* के लेखक) की तरह हेरंडॉन के पास बच्चे पूरा दिन नहीं रहते थे जिससे कि वे उनके लिए स्कूल में ही एक निजी, बेहतर दुनिया बना सकें। हर रोज़ हेरंडॉन बच्चों और दुनिया के बीच उदासीनता, क्रोध, विद्रोह, और निराशा की दीवार को तोड़ने का प्रयास करते, या बच्चों से उसे तुड़वाते। उनके पास कोई ऐसा तरीका नहीं था कि वे सातवीं कक्षा के उन चार छात्रों को, जो पढ़ना बिल्कुल नहीं जानते थे, पढ़ना सीखने में मदद कर पाते। क्योंकि वे इस सच्चाई को स्वीकार ही नहीं करते थे और पढ़ने की किसी भी ऐसी गतिविधि में भाग नहीं लेते थे जिससे ऐसा लगे कि उन्हें पढ़ना नहीं आता था। उनके लिए "बुरा साबित होना मूर्ख साबित होने से ज़्यादा सम्मानजनक था।"

गरीब बच्चों के बारे में लिखते हुए सम्मान की बात कौन करता है? यानी अगर आप खराब हैं तो कोई दूसरा आपसे बदतर हो, तब भी सम्मान — यानी अच्छा साबित होना, और यदि आप बुरे साबित होते हैं तो किसी और का आपसे भी ज़्यादा बुरा साबित होना — इन बच्चों के लिए बड़ी चीज़ थी। इन बच्चों के पास अपने बचाव के लिए दिखावे के अलावा और कुछ नहीं था। इसलिए वे इस दिखावे की हर कीमत पर रक्षा करते थे। यह पुस्तक दिखावे और असलियत के बीच के द्वन्द्व का पर्दाफाश करती है — चीज़ों को कैसा होना चाहिए और वे असल में कैसी हैं, इस पर रोशनी डालती है। जब हेरंडॉन एक महीने की छुट्टी के बाद वापिस कक्षा में लौटे तो बच्चों ने उन्हें दो-टूक शब्दों में बताया कि उनके स्थान पर आई शिक्षिका उनसे कहीं अच्छी थी।

• श्रीमती ए. रोज़ाना उन्हें ब्लैकबोर्ड पर कार्य देती थीं। इसको लेकर जब बच्चों ने हल्ला मचाया तो शिक्षिका ने हरेक बच्चे से एक कार्य-पुस्तिका रखने को कहा। बच्चों को इस पुस्तिका को रोज़ाना स्कूल में लाना था जिससे कि शिक्षक उनके काम को जाँचकर उन्हें नम्बर दे सके। असली शिक्षक यह काम करते हैं, छात्रों ने मुझे बताया। जब मैंने बच्चों से कुछ कार्य-पुस्तिकाएँ दिखाने को कहा तो वे किसी के पास भी नहीं थी। अब क्या करें? मैंने पूछा। कोई लाभ नहीं। उस शिक्षिका ने हम सबसे कार्य-पुस्तिका रखने को कहा, सब बच्चे चिल्लाए। कोई भी बच्चा कार्य-पुस्तिका नहीं भर रहा था, न ही स्कूल में लाया था, यह बात बच्चों के ज़हन में नहीं आई। •

इसी तर्ज़ पर स्कूल के प्रधानाध्यापक ने भी शिकायत की, "... बच्चे समय पर अपनी-अपनी सीटों पर नहीं होते थे, न ही वे समय पर अपनी पढ़ाई शुरू करते थे। अधिकांश बच्चे इधर-उधर बिना कुछ किए घूमते रहते थे। इस तरह का माहौल पढ़ाई के लिए अनुकूल नहीं है।" हेरंडॉन ने फिर असलियत की ओर देखने की दलील दी।

• मुझे नतीजों के बारे में बात करनी पड़ी... इस सब सामग्री को सँभालकर रखने का क्या फायदा है... अगर साल के अन्त में उसे वैसे भी खिड़की के बाहर फेंक दिया जाएगा? उन अनुभवी शिक्षकों का अनुशासन किस काम का था यदि अन्त में वह तमाशे का रूप ले लेता था? मेरी कक्षा में किसी भी छात्र ने विद्रोह नहीं किया, मैंने कहा... अब आप ही बताएँ कि कक्षा में किस का नियंत्रण बेहतर था? •

पर यह सब कहने का भी कोई लाभ नहीं था। स्कूलों में कुछ चीज़ों के होने की अपेक्षा होती हैः बच्चे कक्षा में बिना हिले-डुले बैठें, शान्त रहें, पाठ पढ़ें, कार्य-पुस्तिका को भरें और परीक्षा में पास हों। परन्तु अगर इनमें से कुछ भी न हो, अगर बच्चे कुछ भी न सीखें, कक्षा में विद्रोह करें, स्कूल छोड़ें, यह सब भी चलेगा, यदि आप स्कूल में कुछ तो वो काम करें जिसके लिए स्कूल बना था। परन्तु अगर आप स्कूल में कुछ और करने की कोशिश करते हैं, और हेरंडॉन की तरह आपका नियंत्रण काम करता है और बच्चों को आपके द्वारा सुझाए काम पसन्द आते हैं और वे वाकई उन्हें करते हैं, तो आप पूरे स्कूली तंत्र के लिए एक खतरा बन जाते हैं और आपकी छुट्टी कर दी जाती है। हेरंडॉन की भी छुट्टी कर दी गई। परन्तु यह कहानी यहीं पर खत्म नहीं होती। हेरंडॉन अभी भी पढ़ा रहे हैं और मैं आशा करता हूँ कि वे लिखते रहेंगे। हमें उनकी ज़रूरत है।

— 1968

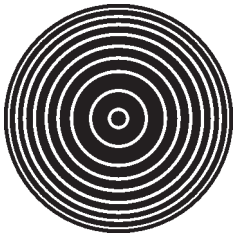

व्याख्यान

मैं आपको बता नहीं सकता कि मैं यहाँ पर आकर कितना खुश हूँ। और "यहाँ" से मेरा मतलब सबसे पहले तो इंग्लैण्ड से है, दूसरे इस काउण्टी से जहाँ मैं हूँ, और तीसरे इस कोर्स से जिसमें मैं शामिल हूँ। मुझे कहना होगा कि यहाँ जो कुछ भी हुआ है, या कम से कम वे चीज़ें जिन्हें होते हुए मैंने देखा है, वे शिक्षा के बारे में उससे कहीं ज़्यादा मुखरता से बोलती हैं जो मैं खुद बोलने के काबिल हूँ। इसका यह मतलब नहीं कि मैं इसका प्रयास नहीं करूँगा, परन्तु मेरा विचार है कि आप सब उन चीज़ों को अपने अनुभव से पहले से ही जानते हैं जिन्हें मैं शब्दों में रखने जा रहा हूँ।

सबसे पहली बात जो मेरे दिमाग में आ रही है वह यह है कि मेरे देश अमरीका में और मेरा ख्याल है इंग्लैण्ड में भी तथाकथित "मिनी-ब्रिटेन" के बारे में बहुत-सी काफी उबाऊ किस्म की चर्चा चली है। कुछ लोग ब्रिटेन की सत्ता के खत्म होने से काफी दुखी हैं। मुझे लगता है कि यदि इस मसले को मुझ जैसे किसी व्यक्ति की नज़र से देखें जो पहली बार 1952 में इंग्लैण्ड आया था और शुरू से ही इस देश को पसन्द करता आया

है तो यह बात सरासर गलत है। अगर हम औपनिवेशिक शक्ति के रूप में ब्रिटेन की सत्ता के क्षय को देखना चाहते हैं तो वह क्षय 1914 से 1918 के बीच में ही पूरा हो गया था। उसके बाद जो कुछ भी हुआ है वह इस क्षय का ही परिणाम है। क्योंकि मैं स्वयं एक ऐसे देश में रहता हूँ जो खुद एक औपनिवेशिक शक्ति बनने का प्रयास कर रहा है, और इसमें उसे काफी कठिनाई का सामना करना पड़ रहा है, इसलिए ब्रिटेन के विश्व औपनिवेशिक सत्ता से गिरने को मैं कोई दुखद घटना नहीं मानता हूँ। मैं आपको बताना चाहता हूँ, और आप में से बहुत से लोग इस बात को मुझसे भी अच्छी तरह से जानते होंगे, कि वर्तमान समय में ब्रिटेन की पूरे विश्व में एक भिन्न तरह की भूमिका और मिशन है और इसमें आप सबके समर्थन की ज़रूरत है। मेरे हिसाब से इस मिशन के दो पहलू हैं। पहले तो ब्रिटेन यह जता सकता है कि एक बड़ा और औद्योगिक देश मुक्त और सभ्य हो सकता है। दूसरे, ब्रिटेन गोरे पश्चिमी देशों और गरीब, विकासशील और अश्वेत देशों के बीच में एक पुल बनाने का मिशनरी रोल अदा कर सकता है। धनी और गरीब देशों के बीच बढ़ती हुई खाई बहुत गम्भीर और खतरनाक रूप ले सकती है। पिछले 10-15 साल में आर्थिक सहायता देने के बावजूद धनी और गरीब देशों के बीच की यह खाई लगातार बढ़ी है। इसी तरह अमरीका के अन्दर और बाहर, मानसिक और आध्यात्मिक स्तर पर भी यह खाई बढ़ती हुई नज़र आती है।

यह विषय आपको शिक्षा से बहुत दूर का विषय लग सकता है। पर ऐसा है नहीं। शिक्षा द्वारा हम सभी लोग दिल, दिमाग और आत्मा का एक गुणात्मक विकास चाहते हैं, और इसका सीधा सम्बन्ध ब्रिटेन की विश्व में स्थिति और उसके सम्भावित मिशन से है। हम कह सकते हैं कि एक औपनिवेशिक और साम्प्रदायिक सत्ता के लिए एक खास तरह की शिक्षा, एक खास तरह का शिक्षण ज़्यादा उपयुक्त था, क्योंकि यह सत्ता दूसरों को यह बताने की स्थिति में होती है कि उन्हें क्या करना है। जब कभी भी मैं पब्लिक स्कूलों की परम्परा के बारे में सोचता हूँ तो मुझे *स्टॉल्की एण्ड कम्पनी* की याद आती है। यह पुस्तक मुझे पहले भी पसन्द थी और आज भी पसन्द है। वैसे किपलिंग जिस इंग्लैण्ड का गुणगान कर रहे थे वह मुझे नापसन्द है। मुझे लगता है कि उस समय अँग्रेज़ जो कुछ भी करना चाहते थे और कर रहे थे उसका *स्टॉल्की एण्ड कम्पनी* से काफी कुछ लेना-देना था। पर मेरी राय में अब बिल्कुल भिन्न प्रकार के गुणों की आवश्यकता है। इसलिए मैं प्रासंगिकता के इस प्रश्न पर कुछ कहना चाहता हूँ। शायद

हम में से ज़्यादातर लोग जो कुछ भी कर रहे हों, जो कुछ भी करने की कोशिश में लगे हों, हमें एक ओर समाज और सत्ता और दूसरी ओर बच्चों के हितों के बीच एक द्वन्द्व नज़र आता है। फिर भी तमाम कारणों से हम बच्चों के हितों की तरफदारी करना चाहते हैं। हमारे बहुत से साथी समाज या सत्ता के पक्षधर हैं और हमें डर लगता है कि अगर समाज या सत्ता की आवाज़ ज़्यादा बुलन्द हुई तो बच्चों के अधिकार की बात, जो अधिकांश लोगों को एकदम तुच्छ और महत्वहीन लगती है, दब जाएगी। इसलिए मैं आपको यह सुझाव देना चाहता हूँ कि हो सकता है यह द्वन्द्व असल में हो ही नहीं।

मुझे लगता है कि परम्परागत शिक्षा इस अहसास पर आधारित है कि ज्ञान और कुशलताओं का एक ऐसा भण्डार है जिसे हर नए बच्चे तक पहुँचाने की ज़रूरत है। शायद इसी में समाज और बच्चे का हित निहित है। मेरे देश में शिक्षा में जो तथाकथित क्रान्ति चल रही है उसने भी शिक्षा के इस मूल सिद्धान्त को कोई चुनौती नहीं दी है। अन्य शब्दों में कहें तो आम तौर पर शिक्षाविद् अब भी इस बात पर सहमत हैं कि बच्चे क्या पढ़ें, कब पढ़ें, कैसे पढ़ें, इसे वयस्क ही निर्धारित करें। बच्चे ठीक पढ़ रहे हैं या नहीं यह निर्णय लेना भी वयस्कों का ही अधिकार है। हम में से जो लोग इस प्रणाली को चुनौती देते हैं उनकी संख्या अमरीका में बहुत ही नगण्य है। मुझे लगता है कि इंग्लैण्ड में ऐसे लोगों की संख्या अधिक है, वैसे उतनी नहीं जितनी आप चाहेंगे। मुझे यह भी लगता है कि ऐतिहासिक रूप से "ज्ञान के भण्डार" वाले इस तरीके का अब कुछ भी औचित्य नहीं रहा है। घटनाक्रमों ने उसे ध्वस्त कर दिया है। इस सन्दर्भ में मुझे कई कहानियाँ याद आ रही हैं। एक कहानी कुछ समय पहले कैलिफोर्निया में सुनी है। जिस आदमी ने मुझे यह कहानी सुनाई उसने कुछ दिन पहले कैलिफोर्निया में एक बड़ी बैठक में भाग लिया था। इस बैठक में कार्य-अनुभव शिक्षा के दिग्गज विशेषज्ञ वहाँ के प्रसिद्ध उद्योगपतियों, व्यापारियों और मज़दूर मालिकों से बातचीत कर रहे थे। "हम आप सब भद्रपुरुषों से वह जानना चाहते हैं जो अब से सात साल बाद आपके मज़दूरों को जानने की ज़रूरत होगी", कैलिफोर्निया में कार्य-अनुभव शिक्षा के प्रधान ने बातचीत के दौरान कहा। यह सुनकर सभा में उपस्थित सभी लोग ठहाका मारकर हँस पड़े। कुछ देर बाद लॉकहीड एअरक्राफ्ट कॉर्पोरेशन के एक आदमी ने कहा, "मैं माफी चाहता हूँ लेकिन हम आपको यह तक नहीं बता सकते कि हमारे कर्मचारियों को आज से सात *महीनों* बाद क्या जानने की

ज़रूरत होगी"। अब, इसका एक कारण तो यह हो सकता है कि शायद हवाईजहाज़ उद्योग, अन्य उद्योगों की तुलना में, तकनीकी रूप से ज़्यादा तेज़ी से बदल रहा है। मुझे लगता है कि जो कुछ भी उस आदमी ने कहा, और अपने ठहाकों के द्वारा जो कुछ भी वहाँ मौजूद अन्य लोगों ने कहने की कोशिश की, उसे हमें आजकल के जीवन की एक सच्चाई मानना चाहिए।

मैं एक और घटना के बारे में भी सोच रहा हूँ, जो हाल ही में मेरे साथ घटी। मैं केम्ब्रिज, मैसाच्यूसेट्स में कोई छह लोगों के साथ खाना खा रहा था। उनमें से दो लोग भौतिकशास्त्री थे। उनमें से एक ने अपनी डिग्री एम.आई.टी. से हासिल की थी और वह उस समय वहीं पर कार्यरत था। दूसरे भौतिकशास्त्री ने पहले वाले से उसके अध्ययन क्षेत्र के बारे में पूछा। एम.आई.टी. वाले व्यक्ति ने कहा, "असल में दस वर्ष पूर्व मैंने सौलिड-स्टेट भौतिकी में डॉक्ट्रेट की थी, परन्तु फिर मैंने उसे छोड़ दिया और तब से मैं अन्य क्षेत्रों में काम कर रहा हूँ, और आज जब लोग सौलिड-स्टेट के बारे में बात करते हैं तो मुझे कुछ भी पल्ले नहीं पड़ता है।" यह कहानी मुझे काफी महत्वपूर्ण लगती है। किसी विषय में डॉक्ट्रेट हासिल करने के बाद दस वर्ष में ही उसी विषय के बारे में कुछ भी नहीं जानना बहुत तेज़ प्रगति की निशानी है! मेरे विचार में यह कहानी इसलिए महत्वपूर्ण है क्योंकि वह वैज्ञानिक इस समय भौतिकी के क्षेत्र में जो कुछ भी कर रहा था उसका ज्ञान उसे अपने अकादमिक प्रशिक्षण के दौरान सीधे नहीं मिला था। बाद में मुझे इलिनॉय में एक नौजवान मिला जिसने केमिकल इंजीनियरिंग का पूरा प्रशिक्षण प्राप्त किया था, परन्तु वह पिछले छह महीनों से इलेक्ट्रॉनिक्स इंजीनियरिंग के क्षेत्र में काम कर रहा था और उसमें उसे बहुत मज़ा आ रहा था। कोई पूछ सकता है, जैसे मैंने पूछा, कि उसके लिए यह कर पाना कैसे सम्भव हुआ? जैसे बहुत से लोग हमेशा हमें बताते हैं, उसने वापिस कॉलेज जाकर चार वर्ष तक इलेक्ट्रॉनिक्स इंजीनियरिंग की पढ़ाई क्यों नहीं की? उसने इस समस्या से पिण्ड छुड़ाने के तरीके खोज लिए हैं। शायद इस विषय को पढ़ते समय जब उसे कोई बात समझ में नहीं आती है तो वह उसे जानने वाले किसी व्यक्ति को खोजकर उससे पूछ लेता है। इससे बढ़िया काम चल जाता है। (अभी कुछ ही दिनों पहले मैंने बॉस्टन के एक रेस्तराँ में एक आदमी को यह कहते हुए सुना कि आजकल "पैसा" इंजीनियरों को पढ़ाने में है क्योंकि "डिग्री मिलने के पाँच वर्ष के अन्दर ही उनका ज्ञान पुराना हो जाता है।")

हाल ही में एक पुस्तक, *द डबल हीलिक्स,* जिसके बारे में आप सबने, खासकर वैज्ञानिकों ने, सुना होगा, को काफी ख्याति मिली है। मैंने उसे मँगाया है परन्तु क्योंकि पुस्तक अभी तक नहीं आई, मैं उसे पढ़ नहीं पाया हूँ। मैं उसे पढ़ना चाहता हूँ और शायद पढ़ूँगा भी। अभी तक मैंने केवल उस पुस्तक की समीक्षाएँ ही पढ़ी हैं और उनसे मेरी रुचि उसमें जगी है। कई समीक्षाओं में लिखा है कि वॉटसन और क्रिक को बहुत से ऐसे क्षेत्रों का कुछ भी ज्ञान नहीं था जो उन्हें जानने चाहिए थे। यह ज्ञान डी.एन.ए. परमाणु पर उनके शोध के लिए अत्यावश्यक था। हमारे पारम्परिक मापदण्डों के हिसाब से उन दोनों के पास सही डिग्रियाँ नहीं थीं और वे इस शोध को करने के योग्य ही नहीं थे। परन्तु वास्तव में सभी आवश्यक योग्यताएँ उनके पास थीं, क्योंकि अपने काम में उन्होंने उन गुणों का उपयोग किया जिन्हें स्कूल में सीखना असम्भव है, जिन गुणों को स्कूल मार डालता है। ये गुण हैं – गहरी और विस्तृत जिज्ञासा, चीज़ों को समझने की अपनी योग्यता में विश्वास, चीज़ों के बारे में जानने के लिए ज़रूरी ज्ञान, आदि। इन बेशकीमती संसाधनों और प्रचुर ज्ञान से लैस होकर वे अपनी अनूठी खोज करने में कामयाब हुए।

मैं ऐसे कई उदाहरण पेश कर सकता हूँ। इन सबका एक ही सार हैः ज्ञान का भण्डार इतनी तेज़ी से बढ़ रहा है कि यह सोचना ही असम्भव है कि अब और आने वाले भविष्य में कोई भी इंसान इस ज्ञान के केवल एक छोटे से अंश से ज़्यादा को ग्रहण कर पाएगा। यह एक बिल्कुल नई बात है। 1920 के दशक तक, जब हक्सले अपने श्रेष्ठ उपन्यास लिख रहे थे, मुझे लगता है कि उन जैसा कोई प्रतिभाशाली आदमी, जिसके पास समय था, जिसकी कई वैज्ञानिकों से मित्रता थी, और जिसे ज्ञान की वास्तविक पिपासा थी, यह महसूस कर सकता था कि वह मानवीय ज्ञान के ज़्यादातर मुख्य क्षेत्रों में बहुत पढ़ा-लिखा था। मुझे विश्वास है कि हक्सले वाकई यह *महसूस* करते थे कि उन्हें वह सब कुछ पता था जो किन्हीं भी लोगों को पता था और मेरा ख्याल है कि उनका ऐसा महसूस करना गलत नहीं था। परन्तु पिछले चालीस वर्षों में यह सम्भावना खत्म हो चुकी है। हम जिन क्षेत्रों को अपनी विद्या या शिक्षा के क्षेत्र मानते हैं वे बहुत तेज़ी से छोटे खण्डों में बँट रहे हैं, और इसके कारण उनका एक-दूसरे से लेनदेन मुश्किल होता जा रहा है। एक मानवशास्त्री, जो स्नातक की पढ़ाई कर रहे थे, ने मुझे बताया कि मानवविज्ञान चार-पाँच, अलग-अलग, छोटे समूहों में बँट रहा है। हरेक समूह का अपना एक अलग तरीका है और

समूहों में आपस में बिल्कुल भी बनती नहीं है। इत्यादि, इत्यादि। मुझे लगता है कि यह प्रक्रिया आगे जाकर और भी बढ़ेगी। इसलिए पुनर्जागरण काल का वह व्यक्ति जो ज्ञान के भण्डार के महत्वपूर्ण तत्वों का अपने दिमाग में समावेश करे, अब गायब हो गया है। ऐसा करना अब सम्भव ही नहीं है। अब हम कुल मानवीय ज्ञान के भण्डार का केवल एक अंश ही जान पाएँगे। हम सब, चाहे हम कितनी भी मेहनत क्यों न करें, कितना भी प्रयास क्यों न करें, हम चाहे कितने भी जिज्ञासु क्यों न हों, हम प्रत्येक दिन मानव निर्मित कुल ज्ञान का कम और कम हिस्सा जानेंगे, और दिनों-दिन अज्ञानी होते जाएँगे।

एक बात और है। जो कुछ हम जानते भी हैं वह भी जल्द ही पुराना हो जाएगा। दूसरे शब्दों में, न केवल नया ज्ञान बेहद तेज़ गति से रचा जा रहा है बल्कि साथ में पुराना ज्ञान भी बहुत तेज़ गति से पुराना और बेकार हो रहा है। यह बात हमारे अपने जीवन में भी सच साबित होती है। मैंने स्कूल में भौतिकशास्त्र पढ़ा था। स्कूल के आखिरी वर्ष में मैंने कॉलेज की तैयारी के लिए भौतिकी का एक कोर्स लिया जिसके लिए हमने उस समय उपलब्ध नवीनतम पाठ्यपुस्तक को पढ़ा। उसके पहले ही पन्ने पर लिखा था कि भौतिकी के मूल नियम के अनुसार पदार्थ (मैटर) को न तो पैदा किया जा सकता है और न ही उसे नष्ट किया जा सकता है। यह 1938 की बात है। साल पूरा होने से पहले ही हमें इस वाक्य को मिटाना पड़ा, क्योंकि उसी समय किसी प्रयोगशाला में पदार्थ को नष्ट कर दिया गया था। मुझे कुछ दबाव में आकर रसायनशास्त्र पढ़ना पड़ा क्योंकि सभी लोगों का यह मानना था कि यह विषय मेरे लिए उपयुक्त होगा। कुछ दिन पहले मैंने अपने एक मित्र, जिसने हाल ही में रसायनशास्त्र पढ़ा है और जो अब रसायनशास्त्र का शिक्षक है, को बताया कि पूरे रसायनशास्त्र के कोर्स में से मुझे केवल संयोजकता (वेलेन्स) ही याद रही है। मित्र ने मेरा मज़ाक उड़ाते हुए, हँसते हुए, कहा, "आपकी असली उम्र उससे कहीं ज़्यादा है जो आपको देखने से लगती है। रसायनशास्त्रियों ने *बरसों* से संयोजकता का नाम भी नहीं लिया है।" यह एक ऐसा ज्ञान था जिसे भूलने पर भी मुझे कोई खास दुख नहीं हुआ। परन्तु यह आपको सोचने के लिए बाध्य करता है। मैंने शास्त्रीय इतिहास, यूनानी और रोमन इतिहास के विषय में जो कुछ भी पढ़ा था उसे इतिहासकार अब सच नहीं मानते हैं। आप शायद मेरी बात पर विश्वास नहीं करेंगे। परन्तु मेरे ज़माने में इतिहासकार मानते थे कि यूनानी लोग सफेद और पवित्र मन्दिर बनाते थे।

परन्तु किट्टो और अन्य लोगों की वजह से हम आज जानते हैं कि ये मन्दिर सुनहरे, लाल और नीले रंग से रंगे होते थे, और अगर उनके पास चमकीली "नियॉन" रोशनियाँ होतीं तो वे उनका भी अवश्य उपयोग करते।

इसलिए एक ओर तो बहुत कुछ और जानने के लिए है, जो हममें से कोई भी पूरी तरह जान ही नहीं सकता; दूसरी ओर हम किसी भी क्षण जो कुछ भी जानते हैं उसमें से ज़्यादातर जल्द ही गलत या बेकार साबित हो जाएगा। अब प्रश्न यह है कि ऐसी परिस्थिति में हम जीवित कैसे रहें? हम कह सकते हैं, जैसे बहुत से लोग कहते हैं, कि इन हालातों में अपने हाथ ऊपर उठा दो और विशेषज्ञों को हर बात पर निर्णय लेने दो। परन्तु अखबार के पहले पन्ने को गौर से देखने पर आपको यह बात कुछ ठीक नहीं लगेगी। पहले तो इन विशेषज्ञों के आपस में ही अनेकों मतभेद हैं; दूसरा, जब कभी ये आपस में मिलकर कोई निर्णय करते हैं तो वह कोई अच्छा निर्णय सिद्ध नहीं होता। वास्तव में, जिन लोगों के पास कुछ विशेष ज्ञान है वे शायद आज की दुनिया में समस्याओं से निबटने के लिए बिल्कुल अनुपयुक्त हों। इसके पीछे एक बहुत महत्वपूर्ण कारण है। क्योंकि इन लोगों ने बड़ी मेहनत और समय लगाकर कुछ विशेष ज्ञान हासिल किया है, इसलिए वे उस दुनिया को देखने या उसके बारे में सोचने को तैयार नहीं हैं जिसमें उनका ज्ञान अब शायद लागू ही नहीं होता। विशेषज्ञ उस अतीत से चिपटे रहने की कोशिश करते हैं जो अब है ही नहीं; उस परिस्थिति से जो अब बदल चुकी है।

इस समस्या को हम अपने देश के शिक्षा क्षेत्र में अनेकों रूपों में देख सकते हैं। मेरे दिमाग में इसके दो स्पष्ट उदाहरण आते हैं। दो वर्ष पहले हमारी संघीय सरकार ने शिक्षा के अवसरों की गैरबराबरी को लेकर एक रपट छापी थी जो कोलमैन रपट के नाम से जानी जाती है। यह रपट कई सालों तक किए गए विस्तृत शोध पर आधारित थी। इस रपट को छपने में बहुत समय लगा। यह रपट काफी प्रभावित करने वाली है, और ज़्यादातर विशेषज्ञ शहरी शिक्षा और उसकी समस्याओं को समझने के लिए इस रपट को ही अपना आधार बना रहे हैं। परन्तु दिक्कत यह है कि यह रपट कई महत्वपूर्ण सन्दर्भों में अब पुरानी हो चुकी है। पूरी परिस्थिति में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन आया है। हमारे गोरे और काले समुदायों के लोगों के बीच के रिश्तों में, नीग्रो समुदाय की आकांक्षाओं में, और दोनों समुदायों के नेतृत्व में इतना बदलाव आया है कि जो कोई भी इस रपट

पर अपने विचार आधारित करेगा, उसका जल्दी ही सफाया हो जाएगा। सामाजिक मामलों के सन्दर्भ में तो यह बात और भी सच है। जब तक विशेषज्ञ अपने तथ्य व आँकड़े इकट्ठा करके उनके प्रति आश्वस्त होंगे, तब तक परिस्थिति बदल गई होगी और उनका काम प्रासंगिक नहीं रहेगा।

इसलिए सवाल यह है : अगर ज्ञान के भण्डार और विशेषज्ञों की जानकारी से – अगर मस्तिष्क में विचारों को और से और तेज़ी से ठूँसने से – उत्तर नहीं मिलता है, तो इस स्थिति में हमें क्या करना चाहिए? इस सन्दर्भ में मुझे एक पत्र याद आ रहा है जो मेरी एक छात्रा ने अपने कॉलेज के दिनों में मुझे लिखा था। मैंने इस लड़की को नवीं कक्षा में पढ़ाया था और फिर दुबारा ग्यारहवीं कक्षा में। जब वह कॉलेज के दूसरे वर्ष में थी तब उसने यह पत्र मुझे लिखा था। अन्य बातों के अलावा उसने एक बिन्दु पर आकर यह लिखा, "जॉन, एक बात के लिए मैं तुमसे ईर्ष्या करती हूँ। तुम्हारे दिमाग में लगता है हर चीज़ 'टेप' पर है।" अमरीका में इसका मतलब होगा कि मैंने सभी बातों को समझ लिया है और उन्हें सही स्थान पर संगठित कर लिया है, आदि। मैं उस छात्रा के इस वक्तव्य पर उसकी कोई निन्दा नहीं कर रहा हूँ। अधिकांश शिक्षाविद् बच्चों को शिक्षा की यही तस्वीर देने की कोशिश करते हैं : कि बस सब कुछ आपके दिमाग में "टेप" हो। न केवल आप सब कुछ जानते हों, बल्कि आप यह भी जानते हों कि ज्ञान के इन टुकड़ों का आपस में क्या सम्बन्ध है और वे कहाँ "फिट" होते हैं। इस छात्रा ने अपनी नासमझी, उलझन और परेशानी में मुझसे ईर्ष्या होने की बात लिखी। वह मानती थी कि मेरे दिमाग में सब कुछ व्यवस्थित था। मैंने उसके पत्र के उत्तर में लिखा, "तुम शायद इससे बड़ी गलती नहीं कर सकती हो। मेरे और तुम्हारे बीच यह अन्तर नहीं है कि मेरे दिमाग में सब कुछ पहले से ही टेप है, बल्कि यह कि मैं जानता हूँ कि ऐसा नहीं है और न ही कभी होगा। न तो मैं ऐसा करना चाहता हूँ और न ही मुझे इसकी ज़रूरत है। मुझे लगता है कि मैं जितना अज्ञानी, अनिश्चित और अस्पष्ट इस वक्त हूँ, पूरा जीवन उसी तरह बना रहूँगा। और मैंने इस स्थिति में जीना सीख लिया है। मैं इसके बारे में चिन्ता नहीं करता हूँ। जैसे पानी में मछलियाँ तैरती हैं उसी तरह मैंने भी अनिश्चितता में तैरना सीख लिया है।" मुझे लगता है कि तेज़ी से बदलती हुई जिस दुनिया में हम रहते हैं उसमें केवल इसी तरीके से रहना सम्भव है। इस दुनिया के बारे में हमें बहुत कम पता है। इसमें पहले तो कुछ करना होता है, और दूसरे इसे बुद्धिमानी से करना होता है। हो सकता है कि विशेषज्ञों

को हमसे ज़्यादा मालूम हो, परन्तु किस विशेषज्ञ को सबसे अधिक मालूम है यह जानने का हमारे पास कोई तरीका नहीं है। दूसरे शब्दों में, हमें जो भी थोड़ी-बहुत और अनिश्चित जानकारी उपलब्ध होती है, उसी के आधार पर विचार करके और निर्णय लेकर हमें ज़िन्दा रहना होता है।

यह सब कहने का मतलब यह है कि बहुत छोटे बच्चे यह सब करने के लिए सबसे अधिक सक्षम होते हैं। इसीलिए छोटे बच्चों के सीखने के सम्बन्ध में जो कुछ भी मैंने कहा है वही बात हरेक व्यक्ति के सीखने के विषय में जो हम सोच रहे हैं उस पर भी लागू होती है। एक छोटे बच्चे के सामने एक ऐसी दुनिया होती है जो उसके लिए लगभग पूरी तरह अस्पष्ट होती है, सिर्फ "फैलती हुई, आवाज़ करती हुई एक उलझन।" परन्तु वह इस उलझन से घबराता नहीं है। उसे ऐसा नहीं लगता कि यह सब उसके दिमाग में टेप हो जाना चाहिए। वह बड़ी आतुरता और सक्रियता से इस अस्पष्ट लगने वाली दुनिया को समझने का प्रयास करता है। परन्तु उसके दिमाग में दुनिया को एक सूत्र में बाँधने का, उसको एक ढाँचे और अवधारणा में फिट करने का, सारी घटनाओं को समझने का कोई मानसिक दबाव नहीं होता। वह अपनी नासमझी की स्थिति को बर्दाश्त करता है और विभिन्न नमूनों और समझदारी के पनपने की प्रतीक्षा करता है। मुझे लगता है कि बच्चे विश्लेषण की अपेक्षा लगातार रहस्योद्घाटन की प्रक्रिया से ज़्यादा समझते हैं। और सच तो यह है कि बहुत जटिल परिस्थितियों को समझने में परम्परागत विश्लेषण की प्रक्रियाएँ एकदम नाकामयाब साबित होती हैं। जहाँ सौ से अधिक घटक हों, जिनमें से किसी पर भी आपका सही नियंत्रण न हो, वहाँ आप विश्लेषण प्रक्रिया से कैसे चीज़ों को संगठित कर सकते हैं? ऐसा करना असम्भव है और बच्चों की अद्भुत प्रतिभा इस बात में है कि वे ऐसा करने की कभी कोशिश नहीं करते हैं। वे इस अस्पष्टता और अनिश्चितता का बड़ी आतुरता और खुशी से सामना करते हैं, और न केवल उसका सामना करते हैं बल्कि उसमें घुस जाते हैं। वे दुनिया की हर स्थिति का जायज़ा लेते हैं और फिर नमूनों, समानताओं और नियमितताओं के उभरने का इन्तज़ार करते हैं। छोटा बच्चा हर समय वह चीज़ करता है जिसे बड़ों के लिए करना बहुत मुश्किल काम होता है और जिसे करना हम सभी को सीखना चाहिए। छोटा बच्चा लगातार अपने दिमाग में दुनिया का, विश्व का एक मॉडल बनाता चलता है, और फिर जैसे-जैसे वास्तविकता उसके सामने उभरती है, वह उसका परीक्षण करता है। ज़रूरत पड़ने पर वह मॉडल को तोड़ता

है और उसे नए सिरे से बनाता है और दुबारा उसका परीक्षण करता है। बच्चा पूरे दिन में या एक साल में इस प्रक्रिया को कितनी बार दोहराता है इसका तो मुझे नहीं पता। पर बच्चा यह बिल्कुल निडर होकर करता है। स्कूल का बच्चे पर काफी हद तक कुछ ऐसा असर होता है कि उसका इस मानसिक मॉडल को, वह चाहे कैसा भी हो, बरकरार रखने में निहित स्वार्थ हो जाता है और जो भी चीज़ें इस मॉडल में फिट नहीं होती हैं, वह उन्हें नकार देता है, या उनकी ओर देखता भी नहीं या उनके बारे में सुनना भी नहीं चाहता। यह मॉडल प्रोक्रस्टीज़ के बिस्तरे में बदल जाता है। तब वह हर चीज़ को काट-छाँटकर या खींचकर इस मॉडल में फिट करना चाहता है। यानी एक महत्वपूर्ण अर्थ में हम सब को – "हम" से मेरा मतलब छोटे बच्चों को छोड़कर बाकी सब से है, वे जो वयस्क हैं और बड़ी उम्र के छात्र हैं – वह चीज़ करना सीखना चाहिए जो हर बच्चा लगातार करता है: अपने मानसिक मॉडल की वास्तविकता के साथ तुलना करना, उसका परीक्षण करना, उसमें परितर्वन करना, उसे बदलना। मुझे लगता है कि जो लोग इस प्रकार के गुणों से सम्पन्न हैं, वही निश्चितता, समझ और नियमितता की खोज को त्यागकर अनिश्चितता, अस्पष्टता और अज्ञानता के हमारे माहौल में सारी ज़िन्दगी, हवा में पक्षी की तरह या पानी में मछली की तरह, बिता सकते हैं। इस प्रकार के लोग ही समझदारी से कुछ सोच पाएँगे।

मैं अब अपनी बातचीत बन्द करूँगा, पर आपमें से किसी की भी इस विषय में रुचि हो तो मुझे इस वार्तालाप को जारी रखने में बहुत खुशी होगी। क्योंकि मैं जो कहना चाहता हूँ वह बहुत सरल है – मेरा पाठ्यक्रम में कोई विश्वास नहीं है। मुझे परीक्षा के अंकों में भी कोई यकीन नहीं है। मुझे ऐसी किसी सीख में विश्वास नहीं है जिसका मूल्यांकन शिक्षक करता हो। मैं वयस्कों के सहयोग और प्रोत्साहन से बच्चों द्वारा वह सब सीखने में विश्वास करता हूँ जिसे वे खुद सीखना चाहते हैं, जब भी सीखना चाहते हैं, और जैसे भी सीखना चाहते हैं। और यह भी उन्हें खुद ही तय करना है कि वे उसे क्यों सीखना चाहते हैं। मुझे लगता है कि शिक्षा का अब यही रूप होना चाहिए।

प्रश्नः आपने वास्तविकता के उस मॉडल का उल्लेख किया जिसका असली दुनिया पर परीक्षण किया जाना चाहिए। साथ ही आपको इसका विश्लेषण का तरीका सही नहीं लगा। ऐसा क्यों?

उत्तरः यह कुछ खास परिस्थितियों के लिए ठीक हो सकता है। विश्लेषण

से यहाँ मेरा मतलब उस तरह के विश्लेषण से था जो प्रयोगशाला में किया जाता है। अगर कोई विशिष्ट घटना पाँच में से किसी एक कारण से होती है, तो हम उन घटकों को अलग-अलग करके उनमें से स्थिर रहने वाले घटक को छाँट लेते हैं। यह तरीका उन परिस्थितियों में काफी उपयोगी होता है जहाँ घटकों की संख्या सीमित होती है और वे हमारे नियंत्रण में होते हैं, जहाँ वे एक-दूसरे से बहुत जटिलता से जुड़े हुए नहीं होते। जब हम इस तरीके को मनोविज्ञान जैसे किसी क्षेत्र में लागू करने की कोशिश करते हैं, और ऐसा करते हुए यदि हम इस प्रकार का व्यवहार करते हैं जैसे कि हम भौतिकशास्त्री या रसायनशास्त्री हों जो मनुष्य के मस्तिष्क का विश्लेषण कर रहे हों, तब मुझे लगता है कि हम हँसी का पात्र बन जाते हैं। यह स्पष्ट है कि अधिकांश मनोवैज्ञानिक ऐसा नहीं सोचते। परन्तु मुझे लगता है कि वे मेरे मत से सहमत होंगे। क्योंकि मुझे मनोवैज्ञानिक मापन पर कोई विश्वास नहीं है। मेरी राय में इसे करना असम्भव है।

प्रश्नः क्या आप स्कूल जाने की अनिवार्यता में विश्वास करते हैं?

उत्तरः यह अजीब लग सकता है, पर मेरा उत्तर है कि नहीं। इस प्रश्न पर मैंने केवल पिछले दो महीनों में ही सोचना शुरू किया है। उससे पहले मैं स्कूल जाने की अनिवार्यता को स्वीकारता था और मुझे अपनी सामर्थ्य में इसे बदलने का कोई तरीका भी नहीं दिखता था। परन्तु अमरीका में बहुत से दुखी पालकों के साथ बातचीत और उनके पत्रों के बाद मुझे यह कार्य अब असम्भव नहीं लगता है। पालकों के पत्रों का एक ही सार था, "मेरे बच्चे को स्कूल तबाह कर रहा है। मैं इसके बारे में क्या कर सकता हूँ?" इस प्रश्न के सम्भावित उत्तर काफी लम्बे होंगे। कानून "सारे उपचारों के उपयोग" की बात करता है, पर इसके लिए अभी बहुत से उपचारों का परीक्षण करना होगा। मैंने अपने आप को कहते हुए पाया कि "अगर इनमें से कोई भी उपचार काम नहीं करता है, अगर वास्तव में कोई भी विकल्प नहीं बचता है, तो मेरा सुझाव होगा कि आप अपने बच्चे को स्कूल से अधिक-से-अधिक दूर रखने की कोशिश करें। तब आप स्कूलों की इस माँग को कि बच्चा स्कूल में मौजूद हो, चुनौती दे पाएँगे।" मुझे लगा कि हमारे यहाँ के कानूनी ढाँचे में यह प्रश्न नागरिक स्वतंत्रता का प्रश्न है। स्कूलों और उनमें अनिवार्य हाज़िरी के औचित्य का एक आधार यह माना जाता है कि स्कूल बच्चों की सहायता के लिए काम करते हैं। परन्तु जहाँ सच में ऐसा नहीं है, वहाँ बच्चों का अनिवार्य रूप से स्कूल में

हाज़िर होने का आधार खत्म हो जाता है। मैंने इस बारे में आगे सोचना जारी रखा और मुझे लगा कि ये नियम-कानून स्कूलों और शिक्षकों के हितों में भी नहीं हैं। हमारे देश में, और मुझे लगता है कि यहाँ इंग्लैण्ड में भी, स्कूल में अनिवार्य हाज़िरी के नियमों ने स्कूलों को जेल में तब्दील कर दिया है। यह बहुत मुश्किल काम है। यदि बच्चे स्कूल में केवल इसीलिए हैं क्योंकि वे वहाँ जाने को मजबूर हैं, तो इससे तमाम बड़ी और महँगी समस्याएँ खड़ी हो जाती हैं। हमारे शहरों में तोड़-फोड़ एक विकराल समस्या है, और असल में अमरीका में स्कूलों के बाहर एक "साईक्लोन फेंस" यानी चोरी निरोधक बाड़ का होना एक आम बात है। मैं यह कहना पसन्द करता हूँ कि यदि आप अमरीका में किसी भी ज़मीन के टुकड़े के बाहर इस प्रकार की बाड़ देखते हैं तो आप समझ जाते हैं कि या तो वह अमरीकी सरकार का कोई उपक्रम है या फिर कोई सरकारी स्कूल है। यह बहुत दुखद बात है। मैंने अमरीका के एक बड़े शहर के स्कूली सुपरिन्टेंडेंट को कहते सुना कि उसे हर साल टूटी खिड़कियों के काँच लगवाने में लाखों डॉलर खर्च करने पड़ते हैं। खिड़कियों के काँचों को कौन तोड़ता है? उन्हें बच्चे तोड़ते हैं। वे उन्हें क्यों तोड़ते हैं? वे उन्हें इसलिए तोड़ते हैं क्योंकि वे उन इमारतों से सख्त नफरत करते हैं। कई वर्ष पहले अमरीका में एक कविता लिखी गई थी जिसका शीर्षक था "कारखानों की खिड़कियाँ हमेशा टूटी होती हैं।" मुझे उस कविता की केवल आखिरी दो पंक्तियाँ याद हैं: "लगता है डेनमार्क में कुछ गड़बड़ है। कारखाने की खिड़कियों के गाने का अन्त।" कविता का सार यह था कि कारखानों की खिड़कियाँ हमेशा इसलिए टूटी होती हैं क्योंकि लोग कारखानों से नफरत करते हैं और जो लोग इन कारखानों को चलाते हैं उन्हें इस समस्या के बारे में गम्भीरता से सोचना चाहिए। मुझे लगता है कि स्कूलों के बारे में भी यह बात उतनी ही सच है। तोड़-फोड़ के अलावा भी, हमारे यहाँ और शायद आपके यहाँ भी कई प्रकार के विशेष सुधार स्कूल हैं : कैद करने का यह धन्धा बहुत जटिल और महँगा हो जाता है। यह सिद्ध करने के लिए कि सभी कैदी जेल में हैं, यदि उन्हें वहाँ होना चाहिए, तमाम तरह के दस्तावेज़ रखने पड़ते हैं। और अगर वे जेल में नहीं हैं, तो फिर वे कहाँ हैं, और क्या उन्हें वहाँ रहने का अधिकार है। और आप सभी लोग जानते ही होंगे कि अगर कक्षा में एक-दो लोग भी ऐसे हों जो वहाँ *एकदम* नहीं होना चाहते, तो शिक्षक के नज़रिए से इसका कक्षा के माहौल पर क्या असर पड़ता है। इससे आपके लिए, उनके लिए और अन्य छात्रों के लिए भी कक्षा का वातावरण एकदम खराब हो जाता है। बहुत कम संख्या में होने के बावजूद

ऐसे छात्र बहुत अधिक समस्याएँ खड़ी करते हैं।

अब, मैं कोई भविष्यवक्ता तो नहीं हूँ। पर अगर स्कूलों में अनिवार्य हाज़िरी के नियम खारिज होते हैं या उनमें कुछ ढील आती है तो उससे किस प्रकार के परिवर्तन आएँगे, उनका मैं कुछ अनुमान लगा सकता हूँ। फिर बच्चे किस प्रकार की संस्थाओं में अपना समय बिताएँगे? बच्चों को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए स्कूल किस प्रकार के कदम उठाएँगे? प्रसंगवश, कम से कम हमारे देश में तो एक बड़ी व्यंग्यात्मक स्थिति बनी हुई है। हमारे बहुत से शहरों में स्कूल इतने खराब हैं कि उनमें दस वर्ष बिताने के बाद बच्चे उनसे घृणा करने लगते हैं, और स्कूल छोड़ देते हैं। यह सब करने के बाद हम स्कूलों को अधिक आकर्षक बनाने के लिए, जिससे कि बच्चे उनमें वापिस आएँ, अथाह धनराशि खर्च करते हैं। इसके लिए शायद हमें पहले ही कुछ करना चाहिए था। अगर बच्चे शुरू में ही स्कूल के खराब होने के कारण उसे छोड़ सकते तो उससे हम जैसे शिक्षाविदों को पहले ही एक सन्देश मिल जाता, कि बच्चों की इस फैक्ट्री के लिए हमें कुछ करना चाहिए। मैं खुद एक स्कूल शिक्षक रह चुका हूँ और अपने अनुभव के आधार पर कह सकता हूँ कि अधिकांश शिक्षकों की यह मान्यता है कि अगर बच्चे ने स्कूल से एक दिन की भी छुट्टी ली है तो उसका वह दिन बर्बाद हुआ है। स्कूल के बाहर भी बहुत सारी जगहें हैं जहाँ बच्चे बहुत कुछ सीखते हैं। मुझे याद है कि मेरे मित्र बिल की सबसे छोटी बेटी ने जब स्कूल जाना शुरू किया था, तो बीच में कई ऐसे दिन आते थे जब वह कहती थी कि उस दिन उसे स्कूल नहीं जाना है क्योंकि वह व्यस्त थी। और वह वाकई व्यस्त होती थी। उसे स्कूल से भी अधिक ज़रूरी कुछ काम करने होते थे। मेरी राय में यह बिल्कुल ठीक था। तो इस प्रश्न के बारे में यह थी मेरी राय। मुझे नहीं पता यह सब कैसे सम्भव होगा। हो सकता है कि इस परिवर्तन को आने में बहुत समय लगे। शायद यह स्थिति कभी न बदले। परन्तु कम-से-कम अपने देश में तो मैंने इस विषय के बारे में लिखना और लोगों से बातचीत करना शुरू कर दिया है।

प्रश्नः क्या आपके पास इसके क्रियान्वयन के लिए कोई ठोस कार्यक्रम है?

उत्तरः मुझे आपके देश के शैक्षणिक नियम-कानूनों के बारे में नहीं पता है। पर मेरे देश में ये नियम राज्यों की विधानसभाओं द्वारा पारित किए जाते हैं। इन नियमों को वहीं पर बदला जा सकता है हालाँकि मुझे लगता है कि इसकी शुरुआत वहाँ से नहीं होगी। मेरा ख्याल है कि अमरीका में

इन नियमों को सबसे पहले शायद न्यायालयों में चुनौती मिले। अब तक किसी ने भी उन्हें चुनौती नहीं दी है। हमारे यहाँ कानून के विकास का इतिहास इस बात का साक्षी है कि ऐसे नियमों को पहली चुनौतियाँ अक्सर अधिक कारगर नहीं होती हैं। आम तौर पर एक प्रजातांत्रिक समाज में लोगों के अधिकारों को तभी स्थापित किया जाता है जब अधिकांश लोग उनकी ज़रूरत पर ज़ोर देते हैं, जब वे उन्हें प्राप्त करने के लिए कष्ट उठाने को तैयार हो जाते हैं। परन्तु इसके अलावा भी, अगर वर्तमान कानून बने भी रहें तो स्थानीय स्तर पर स्कूलों से बातचीत करके शायद कुछ माँगों को मनवाया जा सकता है।

प्रश्नः अगर छुट्टियाँ कुछ लम्बी की जाएँ और फिर स्कूलों को स्वैच्छिक रूप से खोला जाए, छुट्टी की पूरी अवधि के लिए नहीं, शायद तीन हफ्तों के लिए, तब शायद आप दिखा पाएँ कि जब स्कूल खुलते हैं तो उनमें बच्चे आते हैं। दूसरे शब्दों में, आप कानून की माँग करने से पहले एक उदाहरण दे रहे होंगे।

उत्तरः हाँ। मेरी राय में यह मत ठीक है। अब, मेरे देश में और यहाँ भी कई स्थानों पर ऐसे ज़रा अलग किस्म के स्कूल हैं जो छुट्टियों में चलाए जाते हैं। परन्तु, जैसा कि अक्सर होता है, लाभ धनी लोगों को ही मिलता है। जिन स्थानों पर आम तौर पर स्कूल कम से कम खराब हों, वहीं पर गर्मियों में कुछ रोचक पढ़ाई हो सकती है। परन्तु ऐसी पढ़ाई अक्सर उन स्थानों पर ही सम्भव नहीं हो पाती जहाँ उसकी सबसे अधिक ज़रूरत होती है। फिर भी मुझे यह सुझाव महत्वपूर्ण लगता है। अमरीका में निजी (प्राईवेट) शिक्षा की एक क्रान्तिकारी मुहिम भी शुरू होने लगी है। यह दो मायनों में क्रान्तिकारी है। पहले तो यह इंग्लैण्ड के मशहूर समरहिल स्कूल के मायने में क्रान्तिकारी या स्वातंत्र्यवादी है। यानी यह इन सिद्धान्तों पर आधारित है कि बच्चे वही सीखें जो वे चाहें और उसे जैसे चाहें, जब चाहें सीखें। यह एक अन्य रूप में भी क्रान्तिकारी है। इन स्कूलों की शुरुआत जिन लोगों ने की है – और उनमें से कई नौजवान हैं – वे यह सोचने लगे हैं कि उनके स्कूल शहर में हों या उसके बिल्कुल पास में हों, वे बोर्डिंग स्कूलों की बजाय केवल दिन में खुलने वाले स्कूल हों, जो पूरे समुदाय के लिए खुले रहें, कच्ची दीवारों वाले स्कूल ताकि छात्र जब चाहें बाहर समुदाय में जा सकें और समुदाय स्कूल में आ सके। शायद सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि ये स्कूल भी प्रति छात्र उतना ही खर्च करने की कोशिश कर रहे हैं जितना कि सरकारी अनुदानों पर चलने वाले स्कूल

करते हैं, ताकि अगर सरकार कभी चाहे तो इन स्कूलों में हुए अनुभवों को जाँचकर उन्हें सरकारी स्कूलों में भी लागू कर सके। फिलहाल ऐसे स्कूल बहुत कम हैं, परन्तु फिर भी उनकी संख्या काफी है और कुछ अन्य तेज़ी से खुल रहे हैं। मुझे इनके बारे में पूरे देश से लोग पत्र लिखते रहते हैं। और सम्भव है कि इस प्रकार के स्कूल उस तरह की वास्तविक शैक्षिक प्रयोगशालाएँ और प्रदर्शन केन्द्र बनेंगे जैसे मेरा ख्याल है आपके देश में सरकारी स्कूल हैं। आपके यहाँ लीचेस्टरशायर में जो स्कूल हैं, अमरीका में उनका कोई समतुल्य नहीं है।

प्रश्नः हममें से कई लोग शायद आप से सहमत हों, कि ज्ञान का भण्डार अब असंगत और पुराना हो गया है। परन्तु नौकरियों के लिए स्पर्धा बढ़ रही है और नौकरी देने वालों की माँग है कि छात्रों के पास एक निश्चित मात्रा में ज्ञान का प्रमाण होना चाहिए। अगर हम इन विचारों को मान लें तो क्या हम नौकरियों के सन्दर्भ में अपने छात्रों के साथ बेईमानी नहीं कर रहे होंगे?

उत्तरः अगर आप और कुछ नहीं कर रहे हों, तो शायद यह सच हो सकता है। परन्तु मुझे लगता है कि जनशिक्षण का मतलब है जनता को शिक्षित करना, न केवल जनता के बच्चों को। मेरा ख्याल है कि आज कई लोग नौकरी देने वाले लॉकहीड कॉर्पोरेशन से आए आदमी जैसा ही महसूस करने लगे हैं। यह हो सकता है कि लॉकहीड कॉर्पोरेशन के इस नौकरी देने वाले ने, जहाँ हर छह महीनों में कर्मचारियों को बहुत कुछ नया सीखना होता है, अभी इसके बारे में सोचा नहीं है कि इसका स्कूली शिक्षा पर क्या असर होगा। इसलिए किसी को उसे इसके बारे में बताना होगा। मेरा ख्याल है कि हम कुछ कम्पनियों को, विशेषकर जहाँ बहुत तेज़ी से परिवर्तन हो रहे हैं, यह समझा सकते हैं कि स्कूल में अब बच्चों को पूरे जीवन भर काम करते रहने के लिए शिक्षा दे देना सम्भव नहीं होगा। और अगर इस प्रकार का प्रयास किया भी गया तो उससे बच्चों को लाभ की बजाय नुकसान अधिक होगा। साथ ही, ज़्यादातर नए उपकरण इतने महँगे हैं, और वे इतनी तेज़ी से पुराने हो रहे हैं कि हमारे स्कूलों में या व्यावसायिक प्रशिक्षण संस्थाओं में उस प्रकार के औज़ार तथा उपकरण लगा पाना सम्भव नहीं होगा जैसे उपकरणों को वे अपने काम के दौरान इस्तेमाल करेंगे।

दूसरे शब्दों में, मुझे लगता है कि बहुत से क्षेत्रों में हम पुरानी पद्धति की ओर लौट जाएँगे जिसमें काम के दौरान ही नौसिखियों को प्रशिक्षण दिया

जाता था। रोचक बात यह है कि मेडिकल प्रशिक्षण के क्षेत्र में बहुत से अमरीकी इसकी महत्ता को समझने लगे हैं। मेडिकल कॉलेजों में चार साल के प्रशिक्षण के बाद दो साल की इंटर्नशिप करने को लेकर बहुत से डॉक्टरों में गहरा असन्तोष है। वे यह महसूस करने लगे हैं कि मेडिकल ज्ञान का इतना अधिक विस्तार हुआ है कि किसी भी छात्र के लिए उसे मेडिकल कॉलेज के चार सालों में पचा पाना सम्भव नहीं है। मेडिकल शिक्षा में सबसे नया नवाचार कुछ-कुछ इस प्रकार का है : कॉलेज में आए हरेक मेडिकल छात्र को किसी वरिष्ठ डॉक्टर की देखरेख में एक पूरे परिवार की स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्याओं को हल करना होगा। वह कम से कम फौरी तौर पर पूरे परिवार के स्वास्थ्य के लिए ज़िम्मेदार होगा और यूँ कहें तो वह परिवार ही उसके पाठ्यक्रम का केन्द्र होगा। उसके पास पढ़ने को तमाम पुस्तकें होंगी, परन्तु जो कुछ वह पढ़ेगा, जो प्रश्न वह पूछेगा, या जिन प्रयोगशालाओं में वह जाएगा, और जिन चीज़ों के बारे में वह जानेगा, उनका सीधा लेना-देना हाड़-माँस के असली ज़िन्दा लोगों से होगा। ऐसा प्रशिक्षण मेरे ख्याल से एक प्रकार की अप्रेंटिसगीरी या शागिर्दी ही है। और मुझे लगता है कि ऐसी ही कोई पद्धति भविष्य में कारगर होगी।

परन्तु बात यहीं खत्म नहीं होती। तकनीकी शिक्षा में, हमारे वैज्ञानिक शिक्षण में ऐसा माना जाता है कि बिल्कुल शुरू से प्रारम्भ किए बिना कोई भी व्यक्ति विज्ञान में अग्रणी शोध नहीं कर सकता है। यानी प्रत्येक शोधकर्ता को हरेक सीढ़ी से होकर गुज़रना ज़रूरी है। यह यात्रा अब बहुत लम्बी होती जा रही है। परन्तु सच्चाई यह है कि बहुत से लोग, जैसे सॉलिड स्टेट भौतिकी वाला मेरा मित्र, या वह नौजवान कैमिकल इंजीनियर, या फिर नोबेल पुरस्कार विजेता वॉटसन और क्रिक, अपने क्षेत्र से हटकर किसी दूसरे क्षेत्र में भी विज्ञान की अग्रणी पंक्ति में काम करने लगते हैं। जैसे-जैसे पहले कदम से विज्ञान के अग्रणी चरण के बीच की दूरी बढ़ रही है, वैसे-वैसे हमें बीच की सीढ़ियों को कम करके अपने गन्तव्य के आस-पास पहुँचने का प्रयास करना पड़ेगा। मैं यह भी जोड़ना चाहूँगा कि इस बात का कोई विशेष प्रमाण नहीं है कि जो बच्चे अपनी रुचि और जिज्ञासा से पढ़ते हैं वे परम्परागत परीक्षाएँ देने वाले बच्चों की तुलना में किसी भी रूप में कम होते हैं। परन्तु इससे मुद्दा कुछ उलझ जाता है। मैं यकीनी तौर पर मानता हूँ कि हमें परम्परागत स्कूली शिक्षा की खामियों के बारे में आम लोगों को जागरूक करना होगा।

प्रश्नः आप फौज या वायु-सेना कैसे रखेंगे? यहाँ मुझे यह कह देना चाहिए कि आप जो कुछ भी कह रहे हैं मैं उससे पूरी तरह सहमत हूँ। परन्तु जो देश आपके द्वारा सुझाई पद्धति को अपनाएगा वह फौज या वायु-सेना कैसे रख पाएगा?

उत्तरः मुझे यह भी नहीं पता कि वर्तमान में फौज या वायु-सेना को कैसे रखा जाता है। क्या आपका आशय यह है कि नई शिक्षा प्रणाली में कोई फौज में जाना ही नहीं चाहेगा और अगर कोई जाएगा भी तो वह उसमें असफल...

प्रश्नः दोनों ही बातें हैं और साथ में यह भी है कि हमारी वर्तमान शिक्षा प्रणाली ज्ञान के भण्डार के सिद्धान्त के प्रति समर्पित है।

उत्तरः हाँ, अगर हम साफ शब्दों में कहें तो पारम्परिक शिक्षा एक तरह से लोगों को गुलामी के लिए तैयार करती है। आप जानते हैं : "आदेश तो आदेश ही होते हैं।" और अगर आपको सारी ज़िन्दगी आदेशों का ही पालन करना है तो अच्छा हो कि आप इस काम को छह बरस की उम्र से ही शुरू कर दें। और असल में, यह तर्क मुझे अक्सर सुनाई देता है। जब कभी मैं ऐसे लोगों से मिलता हूँ जो कहते हैं कि आपके और हमारे देश में स्वतंत्रता की बात एकदम बेमानी है और कि असल में ज़िन्दगी एक गुलामी है, इसलिए जितनी जल्दी बच्चे उसके अभ्यस्त होंगे उनके लिए उतना ही अच्छा होगा – जब मेरी मुलाकात इस प्रकार के लोगों से होती है तो मैं उनसे कुछ ऐसा कहता हूँ : "अगर मैं आपकी जगह होता और इस बात पर यकीन भी करता कि मेरे द्वारा निर्णय लेने की कुछ बुनियादी स्वतंत्रताएँ मुझसे छीन ली गई हैं, कि मैं, वास्तव में, केवल एक ऊँची तनख्वाह पाने वाला गुलाम मात्र हूँ, तो भी मैं अपने बच्चों को एक बेहतर भविष्य के लिए शिक्षित करता।" जब यह "भावुक" अपील काम नहीं करती, तब यही कहना पड़ेगा कि कुछ दूरियों को शब्दों से पाटना या भरना सम्भव नहीं होता। ऐसे बहुत से लोग हैं जो बच नहीं पाएँगे। परन्तु मेरा ख्याल है कि हम व्यवस्था से यह ज़रूर कह सकते हैं कि इस प्रकार के आदेश मानने वाले उसके भी हक में नहीं हैं, क्योंकि चीज़ें काफी जटिल हैं। मैं अमरीका में एक ऐसे शख्स को जानता हूँ जो शिक्षकों के बड़े समूहों को यह कहकर भयभीत करना पसन्द करता है: "जिस शिक्षक की जगह मशीन काम कर सके उसे हटा देना चाहिए।" मैं इसमें केवल एक चीज़ और जोड़ना चाहता हूँ, कि जिस शिक्षक को मशीन विस्थापित कर पाएगी,

उसे हटा *ही* दिया जाएगा। और यह बात केवल शिक्षकों पर ही लागू नहीं होती, यह *सभी लोगों* पर लागू होती है। वे काम जो याद रह जाने वाली सूचनाओं और पद्धतियों के आधार पर किए जा सकते हैं – तुम यह करो, तुम वह करो – उन्हें मशीनों से करवाना काफी आसान होता है और जल्द ही ऐसे तरीके खोज लिए जाएँगे कि उन्हें छोटी-छोटी मशीनों से करवाया जा सके। एक काम जो मनुष्य कर पाते हैं और जिसे मशीनें कभी नहीं कर पाएँगी वह है नई, बदलती हुई परिस्थितियों के बारे में मौलिक चिन्तन। और मेरा ख्याल है कि कुशलताएँ और आदेश लेने की योग्यताएँ जो किसी समय व्यवस्था के लिए उपयोगी थीं, अब दिनों-दिन अनुपयोगी होती जाएँगी।

प्रश्नः जिस समाज का आप वर्णन कर रहे हैं उसका ढाँचा कैसे उभरेगा और उसमें स्थिरता कैसे आएगी? आपके अनुसार एक बहुत जटिल व्यवस्था के समक्ष जिस प्रकार एक बच्चे की सहज प्राकृतिक प्रतिक्रिया होती है, उसी तरह हमें भी अपने परिवेश को देखना चाहिए। परन्तु छोटे बच्चे को माता-पिता की ठोस निश्चितता और सुरक्षा उपलब्ध होती है। क्या आपको हमारे समाज में इस प्रकार का कोई समतुल्य ढाँचा दिखता है जिसका सहारा हम ले सकते हैं? या, क्या आप इसके लिए कोई अन्य ढाँचा सुझा सकते हैं?

उत्तरः अगर समाज में नियमितताएँ, नमूने और ढाँचे हैं तो बच्चे उन्हें खोज लेंगे। अब, मुझे पता है कि यह आपके प्रश्न का केवल परोक्ष उत्तर है। परन्तु आपके प्रश्न से मिलता-जुलता ही एक अन्य प्रश्न मुझसे बहुत बार पूछा जाता है। इसलिए मैं दोनों प्रश्नों का जवाब एक साथ दूँगा। कभी-कभी मुझसे विशेष तौर पर विज्ञान में प्रशिक्षित लोग पूछते हैं, "आप हरेक बच्चे से पहिए को दुबारा आविष्कार करने को तो नहीं कह रहे हैं?" पिछली बार जब मुझसे यह सवाल पूछा गया उस समय मैं कनेक्टीकट के एक हाई स्कूल में था और मैं एक आदमी से बातचीत कर रहा था। हम दोनों स्कूल के सामने वाले हॉल में खड़े थे और एक बड़े काँच के दरवाज़े में से स्कूल में कारों के पार्किंग स्टैण्ड को देख रहे थे। वहाँ कोई पचास कारें खड़ी थीं और हरेक कार के चार पहिए साफ नज़र आ रहे थे। मैंने दरवाज़े के बाहर की ओर इशारा करते हुए कहा, "उन्हें पहिए को दुबारा आविष्कार करने की कोई आवश्यकता नहीं है। उसका आविष्कार हो चुका है। वह पहिया बाहर वहाँ है, वे इसे देख ही लेंगे।" हमारे समाज में जो भी नमूने, नियमितताएँ, ढाँचे आदि पहले से ही मौजूद हैं, उनको समाज

में जी रहे लोग खुद खोज सकते हैं, और वे उन्हें खोज निकालेंगे।

प्रश्नः क्योंकि आपने हमारे समाज की अनिश्चितता और गतिशीलता का ज़िक्र किया है, इसलिए क्या आप उन ढाँचों को परिभाषित करने का कष्ट उठाएँगे जो शायद वहाँ अब भी मौजूद हैं?

उत्तरः एक चीज़ आपके देश में, और उससे भी ज़्यादा मेरे देश में, जीवन को कठिन बनाती है। बहुत-सी ऐसी स्थायी, अपरिवर्तनशील चीज़ें, जिन्हें बरसों से जाँचा-परखा गया था और जिनसे लोग अस्थिरता और अनिश्चितता से भरे इस संसार में सहारा लेते थे, जिन्हें थामकर वे अपना नियंत्रण बनाए रखने की कोशिश करते थे, वे सब अब धीरे-धीरे लुप्त हो रही हैं। अमरीका में आध्यात्मिक बेचैनी का यह एक प्रमुख कारण है। अन्य देश जो अमरीका की प्रगति के पथ पर चल रहे हैं उनका भी दिनोंदिन यही हश्र होगा, क्योंकि उनकी संख्या अब कम होती जाएगी। हमें बहुत कम निश्चितताओं के साथ जीवनयापन करना सीखना होगा। सांस्कृतिक परम्पराओं और इंसानी विरासत के मूल्यों को शिक्षा द्वारा कैसे प्रसारित किया जा सकता है, इस तरह के प्रश्न भी मुझसे पूछे जाते हैं। परन्तु मनुष्य के जीवन के सच्चे पथप्रदर्शक के रूप में पारम्परिक नैतिकता, मूल्य और संस्कृति बहुत पहले से गायब हो चुके हैं। मेरे देश के जीवन की यह एक बहुत बड़ी वास्तविकता है; यहाँ इंग्लैण्ड में ऐसा कम है, परन्तु यहाँ भी बहुत जल्द ही ऐसा होने वाला है। सच तो यह है कि जिन चीज़ों में विश्वास करने का दावा हम करते हैं, असल में अब हम उनसे अपना मार्गदर्शन नहीं करते। हम उनसे अपना पोषण नहीं करते, न ही उनका सहारा लेते हैं। इस कारण नौजवान लोगों की ज़िन्दगी काफी कठिन हो गई है। और मेरा ख्याल है कि एक चीज़ जो हमें करनी होगी वह है नए मूल्यों को रचना, या फिर कुछ पुराने मूल्यों को दुबारा रचना।

प्रश्नः यदि ऐसा है, तो क्या एक छोटे बच्चे को एक मॉडल और उदाहरण के रूप में पेश करना हमारे प्रति कुछ अन्यायपूर्ण नहीं होगा, क्योंकि बच्चे को अपना खोजबीन का काम करने के लिए अच्छी-खासी सुरक्षा मिलती है?

उत्तरः हो सकता है। छोटे बच्चों के पास सुरक्षा की मात्रा एक-दूसरे से काफी अलग-अलग होती है। आप बिल्कुल ठीक कह रहे हैं, पर दूसरी ओर छोटे बच्चे हम बड़ों की तुलना में शारीरिक तौर पर कहीं अधिक असहाय और निर्भर होते हैं। हम लोगों की एक तरह की ज़िम्मेदारी है —

मैं इस बात को कैसे रखूँ? चाहे कोई भी सहारा न हो, और जिस ज़मीन पर हम खड़े हों वह हिल रही हो, फिर भी हम छोटे बच्चों के मुकाबले अधिक साहसी बनने की कोशिश करें। इसके लिए जो भी उपयुक्त वस्तु मिले आप उसका सहारा लें।

प्रश्नः आप ब्रिटेन की अलग भूमिका देखते हैं। परन्तु क्या इससे परिस्थिति का कोई हल निकलेगा? क्या परिस्थिति और विकट नहीं हुई है? इसलिए शिक्षा की वे समस्याएँ जो उन शिक्षाविदों के सामने थीं जो शिक्षा के बारे में सोचते थे वैसी की वैसी बनी हुई हैं।

उत्तरः पर वे अधिक गम्भीर हो गई हैं और अत्यधिक तेज़ी से बढ़ रही हैं। पारम्परिक शिक्षा की भूमिका, मेरे विचार में, दिन-प्रतिदिन घटती जा रही है। अब हमें ऐसी शिक्षा चाहिए जो बच्चे को मुख्यतया ज्ञान और निश्चितता न दे बल्कि उसे साधन-सम्पन्न, लचीला, जिज्ञासु, सीखने में कुशल और गलतियों को भूलने में कुशल बनाए। ऐसा ही कुछ अब यहाँ हो रहा है। यह कुछ भले लोगों की महज़ दिमागी उपज नहीं है क्योंकि वे बच्चों के प्रति दया महसूस करते हैं। हालाँकि मेरी राय में यह एक अहम् कारण है। परन्तु हम जो कुछ भी कर रहे हैं उसके पक्ष में हम कई अन्य तर्क भी दे सकते हैं। और मेरे ख्याल से यह महत्वपूर्ण है।

प्रश्नः क्या मैं एक ऐसा प्रश्न पूछ सकता हूँ जो आपको कुछ विचलित करे? आपके अनुसार ज्ञान का अब कोई ऐसा भण्डार नहीं है जिसे सीखना हमारे लिए ज़रूरी हो। अगर हम फिलहाल इसे प्राथमिक शिक्षा तक ही सीमित रखें तो क्या आपकी राय में अनुभव के कुछ ऐसे क्षेत्र हैं जिनसे हरेक बच्चे को गुज़रना चाहिए?

उत्तरः यह एक बहुत ही कठिन प्रश्न है। और यह कठिन इसलिए है क्योंकि खुद मेरे दिमाग में भी अभी काफी सन्देह और काफी अस्पष्टता है। जिन चीज़ों के बारे में मुझे तीन वर्ष पहले लगता था कि मैं उन्हें जानता हूँ, उनके बारे में अपने ज्ञान पर अब मुझे सन्देह होने लगा है। कुछ चीज़ों के बारे में साल भर पहले तक मेरी काफी हद तक निश्चित मान्यताएँ थीं। यह निश्चितता अब नहीं रही है। उदाहरण के लिए, गणित की उपयोगिता को लेकर अब मैं पहले से कहीं कम विश्वस्त हूँ, चाहे यह उपयोगिता बच्चों द्वारा जीवन की तैयारी के लिए हो या उनके बौद्धिक विकास में सहायक एक उपकरण के रूप में। मेरा ख्याल है कि अपनी पहली पुस्तक में मैंने इस तरह की कुछ बात की थी कि गणित बच्चों के बौद्धिक विकास का

एक तरीका हो सकता है। मुझे अभी भी लगता है कि कुछ बच्चों के बारे में यह शायद ठीक ही हो, परन्तु मुझे इस बात पर अब शक है कि अधिकांश बच्चों के लिए यह तरीका उचित है। मुझे लगता है कि सीखने के कई तरीके हैं। हमने आज दोपहर को अलग-अलग माध्यमों, यानी कविता, कला, संगीत आदि के साथ कई प्रयोग किए। मनुष्य के विकास और उसकी क्षमताओं को बढ़ाने के सन्दर्भ में मुझे ये चीज़ें कुछ चतुर तरीकों या कुज़िनेयर छड़ों के साथ प्रयोगों से कहीं अधिक महत्वपूर्ण लगती हैं। ऐसे प्रयोग किसी ज़माने में मैं बच्चों के साथ किया करता था या उनसे करवाता था। गणित मुझे अब भी पसन्द है। मैं अपनी बात को शायद इस प्रकार कह सकता हूँ। लन्दन में गणित शिक्षकों के एक सदस्य मण्डल से बातचीत करते समय मैंने कहा था कि मुझे लगता है कि हमें इस बात पर काफी चिन्तन-मनन करना होगा कि क्या गणित एक प्रकार की आवश्यकता है, या फिर एक मनोरंजन है। मेरा ख्याल है कि गणित को संगीत की तरह एक मनोरंजक गतिविधि के रूप में ही देखना बेहतर होगा। मुझे संगीत से बेहद लगाव है। परन्तु मुझे लगता है कि जिन लोगों को शतरंज खेलना, या गणित की पहेलियों या प्रश्नों या समस्याओं को हल करना अच्छा लगता है, उन्हें इन गतिविधियों में आनन्द का अहसास होता है, बिल्कुल उसी तरह जैसे मुझे संगीत से सुख मिलता है। और जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, ये गतिविधियाँ उतनी ही उपयोगी हैं जितनी वे जो खुद मुझे अच्छी लगती हैं और इन्हें उसी तरह प्रोत्साहन मिलना चाहिए। परन्तु जब हम गणित की बात करते हैं, चाहे वह अंकगणित हो या कोई और भी उन्नत रूप, जब हम कहते हैं कि बीसवीं शताब्दी में बुद्धिमान जीवन जीने के लिए वह अतिआवश्यक है, तब मैं अलग हो जाता हूँ। मेरा ख्याल है कि मेरे देश में अंकगणित अब एक बेकार की कुशलता बन गई है। अमरीका में अब ज़्यादातर हिसाब-किताब मशीनों द्वारा किया जाता है और भविष्य में इसके और भी तेज़ी से फैलने की आशंका है। यहाँ इंग्लैण्ड में शायद यह चीज़ अभी इतना नहीं फैली है, पर अब फैल जाएगी। मुझे लगता है कि अगले बीस सालों में स्कूल पाठ्यक्रम की सारी गणित को ट्रांज़िस्टर रेडियो जितने बड़े एक उपकरण द्वारा करना सम्भव हो जाएगा। इससे न केवल बुनियादी अंकगणितीय काम बल्कि वर्गमूल तथा और भी पता नहीं क्या-क्या किया जा सकेगा। और ये उपकरण बहुत महँगे नहीं होंगे। इस स्थिति में लोगों को अंकगणित, और उससे भी उन्नत स्तर पर बीजगणित, ज्यामिति, त्रिकोणमिति, ठोस-ज्यामिति, कैल्क्युलस आदि

सिखाना काफी हास्यास्पद लगेगा। जब मैं अपने या आपके देश के समकालीन समाज की मुख्य समस्याओं के बारे में सोचता हूँ तो मुझे एक भी ऐसी समस्या नज़र नहीं आती है जिस पर विचार करने में लोगों को गणित का कम या ज़्यादा ज्ञान किसी काम आएगा। स्कूलों में जिस प्रकार की गणित पढ़ाई जाती है, और इंजीनियरिंग और तकनॉलॉजी के अग्रणी क्षेत्रों में शोध के लिए जिस प्रकार की गणित चाहिए होती है, इन दोनों के बीच कोई गहरा सम्बन्ध है भी, इस बात पर मुझे शक है। मुझे नहीं लगता कि जो कुछ भी आप स्कूल में पढ़ते हैं उससे आपको कम्प्यूटर को नियोजित करने में कुछ मदद मिलेगी। अगर हमें लगता कि कम्प्यूटरों के इस युग में काम कर पाने के लिए हमें बच्चों को तैयार करना है और इसके लिए उन्हें कम्प्यूटर-कुशल बनाना होगा, तो ये कुशलताएँ उन्हें कम्प्यूटरों पर काम करके ही मिलेंगी। द्विघातीय समीकरणों को हल करने से इसमें कैसे मदद मिलेगी यह मुझे समझ में नहीं आता है।

प्रश्नः क्या आप पढ़ने की कुशलता को भी इसी नज़रिए से देखेंगे?

उत्तरः नहीं। पढ़ना इससे कुछ अलग है। यह एक और धमाका है जिसे मैं मुक्त होकर अमरीका में सभी जगह उछाल रहा हूँ; इसीलिए मैं उसे यहाँ पर भी उछालूँगा; हालाँकि अमरीका की तुलना में यहाँ पर मुझे लगता है कि उसका आघात कुछ कम होगा। मेरा पक्का विश्वास है कि बिल्कुल दूर-सुदूर के ग्रामीण इलाकों को छोड़कर बाकी सभी स्थानों पर अधिकांश बच्चे हमारे कुछ किए बिना भी पढ़ना सीख जाएँगे। आजकल बच्चों का परिवेश पूरी तरह लिखित सामग्री से भरा होता है – अखबार, पत्रिकाएँ, टेलिविज़न पर लिखाई, सॉइन-बोर्ड, इश्तहार आदि। इसलिए मैं इस बात की कल्पना भी नहीं कर सकता कि अगर हमने किसी बच्चे को यह विश्वास नहीं दिला दिया है कि वह बेवकूफ है और पढ़ने के अयोग्य है – तो वह कैसे इस माहौल में पढ़ना सीख नहीं पाएगा। असल में मुझे लगता है कि कुछ ऐसी चीज़ें स्कूल के माहौल में की जा सकती हैं, और आपके बहुत से स्कूल ऐसा करते भी हैं, जिनसे बच्चे के लिए पढ़ने के बारे में भी वैसी ही खोजबीन करना आसान हो जाए जो पहले उसने बोलने को लेकर की थी। लेकिन मैं न केवल यह मानता हूँ कि पढ़ना सिखाने की ज़रूरत नहीं है, बल्कि यह भी कि पढ़ाई के दौरान जो अड़चनें आती हैं वे अधिकतर हमारे पढ़ाने के कारण ही पैदा होती हैं, न कि इस कार्य के मूलतः मुश्किल होने के कारण। एक बौद्धिक कार्य के रूप में पढ़ने की प्रक्रिया – जिसमें "फोनिक-कोड" के रहस्य को सुलझाना होता है,

बोलचाल की अँग्रेज़ी की 45 ध्वनियों और लिखाई के 380 चिह्नों को पहचानना होता है – बोलने की जटिल क्रिया से बहुत आसान होती है। बोलने के जटिल कार्य को सभी बच्चे खुद समझकर सीख लेते हैं। इसलिए मुझे पढ़ाई के हुनर को सिखाने की कोई आवश्यकता नज़र नहीं आती है।

प्रश्नः आप चाहें तो इन कुशलताओं को उलटा कर सकते हैं और तब भी आपके समक्ष वही समस्या होगी। अगर बच्चे पढ़ना उसी तरह सीखें जैसे उन्होंने बोलना सीखा था, और उसके बाद वे वापिस बोलने की ओर मुड़ें, तो उन्हें बोलने में भी समस्या होगी। शायद आप किसी भी कुशलता को उसके सीखने के तरीके से अलग नहीं कर सकते। असली बात यह है कि जिस तरह से बच्चे बोलना सीखते हैं, ठीक उसी तरह से वे पढ़ना सीख ही नहीं सकते।

उत्तरः मुझे शायद आपकी बात समझ में नहीं आई। क्या आप यह कह रहे हैं कि जिस तरह से बच्चे बोलना सीखते हैं, उस तरह से वे पढ़ना सीख ही नहीं सकते।

प्रश्नः अगर वे उन्हें साथ-साथ न सीखें।

उत्तरः "एक ही तरीके" से मेरा मतलब इस प्रकार है। बच्चा जब पढ़ना सीखता है तो उसमें बहुत-सी बातें जुड़ी होती हैं। वह अपने परिवेश से बहुत-सी बोली हुई चीज़ों को जज़्ब करता है। फिर वह उस बोली को अपने दिमाग में व्याकरण के नमूनों में छाँटता है। मैं आपको यह भी बता दूँ कि मैंने कई भाषाविदों को – जो बच्चों द्वारा शुरू में बोली सीखने का अध्ययन करते हैं – यह कहते सुना है कि उनके विचार में बच्चे शब्दों से पहले व्याकरण सीखते हैं। भाषा किस प्रकार गढ़ी गई है, उसकी रचना क्या है, इसके बारे में बच्चे इकाइयों का मतलब जानने से पहले ही काफी कुछ जान लेते हैं। मैं इस बात पर ज़्यादा ज़ोर नहीं दूँगा, परन्तु इतना ज़रूर कहूँगा कि एक काम जो बच्चे कर लेते हैं वह यह है कि वे जो कुछ भी अपने आस-पास सुनते हैं, उसकी व्याकरण सम्बन्धी बातों को अलग छाँट लेते हैं। वे अँग्रेज़ी व्याकरण के मानसिक मॉडल तैयार कर लेते हैं। शुरू में ये मॉडल काफी कच्चे होते हैं, फिर वे उन्हें लागू करके देखते हैं, गलतियाँ करते हैं, और समझ जाते हैं कि उन्हें परिष्कृत करने की ज़रूरत है। लगभग छह साल की आयु तक वे 90 से 95 प्रतिशत व्याकरण समझ जाते हैं। वे एक अन्य अत्यन्त मौलिक और सृजनात्मक

प्रक्रिया से गुज़रते हैं। "अवधारणा" नाम का शब्द अमरीका में काफी लोकप्रिय है और बच्चों की "स्कूल में अवधारणा बनाने" के विषय पर बड़ी-बड़ी बातें की जाती हैं। परन्तु सच तो यह है कि "कुर्सी" शब्द का उपयोग करने से पहले ही बच्चा "कुर्सी" की अवधारणा बना चुका होता है। वह कुर्सी को "कुर्सी" उस तरह से नहीं बुलाता जैसे आप अपने भाई को "बिल" कहकर सम्बोधित करेंगे। जब वह किसी कुर्सी की ओर इंगित करके "कुर्सी" कहता है तो उस समय उसने यह समझ लिया होता है कि कुर्सी कुर्सियों की एक बहुत बड़ी श्रेणी में से एक है, जो मेज़ों, बेंचों, अल्मारियों तथा पियानो से कुछ भिन्न है। यह दुनिया का वर्गीकरण है, चीज़ों को श्रेणियों में बाँटना, हरेक चीज़ के लिए सही लेबल खोजना। बच्चे को इन लेबलों के उच्चारण हमसे मिलते हैं, परन्तु किस लेबल को किस वस्तु पर चिपकाना है इसका निर्णय उसे खुद लेना होता है। हमारे सिखाने की वजह से बच्चे बहुत कम वस्तुओं के नाम सीखते हैं। यह सारी सीख खोजबीन और आविष्कार, जाँच-पड़ताल और सुधार से आती है। और जब मैं एक तरीके की बात करता हूँ तो मेरा मतलब इसी तरीके से होता है। बच्चा इसी तरीके का उपयोग पढ़ना सीखने के लिए भी कर सकता है। "इसका क्या आशय है, उसका क्या मतलब है?" जैसे प्रश्नों से वह लिखित शब्दों और बोली गई ध्वनियों के बीच सम्बन्ध स्थापित करता है। वह बोली गई ध्वनियों में एक नमूना देख लेता है।

प्रश्नः आपने कहा कि बोलना सीखते हुए बच्चे बार-बार सुधार करके ही सीखते हैं, उन्हें सिखाया नहीं जाता।

उत्तरः हाँ, पर वे सुधार खुद करते हैं।

प्रश्नः मुझे आपकी बात गलत लगती है। आपने कहा कि कुर्सी को "कुर्सी" इसलिए कहा जाता है क्योंकि बाकी चीज़ों के अलावा उसके चार पैर होते हैं। लेकिन घोड़े के भी चार पैर होते हैं, और छोटे बच्चे अक्सर घोड़ों को "बिल्ली" कहते हैं या अन्य मर्दों को "डैडी" कहते हैं। और उनको सुधारा जाता है। वे खुद अपने आपको नहीं सुधारते हैं।

उत्तरः वे अपने आपको खुद ही सुधारते हैं। यह कहते हुए मैं आपसे क्षमा चाहता हूँ पर मैंने आपकी तुलना में बहुत से छोटे बच्चों को करीब से जाना है। मैं बहुत से परिवारों को जानता हूँ। मैं अक्सर ऐसे परिवारों में मेहमान की तरह जाता हूँ जहाँ बहुत सारे छोटे बच्चे होते हैं। और एक बात जिसका मैं बहुत लम्बे अर्से से अध्ययन कर रहा हूँ वह यह है कि छोटे बच्चे

किस प्रकार बोलना सीखते हैं। और एक चीज़ जो मैंने देखी है वह यह है कि अधिकांश सुधार वे खुद ही करते हैं। सच तो यह है कि कम से कम मेरे देश में तो अब बहुत से वाक्-चिकित्सक (स्पीच थेरेपिस्ट) यह मानने लगे हैं कि जिन बच्चों के माँ-बाप उन्हें भाषा सुधार के लिए बार-बार टोकते हैं वे या तो बोलना ही बन्द कर देते हैं या फिर हकलाने लगते हैं। उनके अनुसार इस प्रकार का टोकना ही बहुत-सी बोली सम्बन्धी विकृतियों का मूल कारण है। अब, मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि यह बात सौ प्रतिशत परिवारों के विषय में ठीक है। कुछ ऐसे परिवार भी हो सकते हैं जो बच्चे की हरेक गलती को तुरन्त सुधारते हों — मेरी राय में ऐसा करना उचित नहीं है। इसमें समझदारी की कमी है। ऐसे भी बच्चे हो सकते हैं जो इस प्रकार के असभ्य और क्रूर व्यवहार को झेलकर भी उसके नुकसान से बच निकलते हों। परन्तु मैंने देखा है कि अधिकांश बच्चों की भाषा को उनके माँ-बाप हर समय नहीं सुधारते हैं। शायद इसलिए कि वे बहुत आलसी हैं, या फिर वे बहुत शिष्ट हैं। मुझे नहीं पता क्यों।

प्रश्नः क्या यह सच नहीं है कि जब बच्चे बोलना सीख रहे होते हैं उस समय वयस्क उनसे जिस प्रकार बातचीत करते हैं उससे बच्चों की भाषा के विकास पर बहुत महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है?

उत्तरः हाँ, बिल्कुल। बच्चा वही भाषा सीखेगा जो वह अपने आसपास सुनेगा। मेरा यह मतलब नहीं है कि बच्चे पूरी की पूरी भाषा खुद इजाद करते हैं। हालांकि मुझे ऐसे भी बच्चे मिले हैं जो ऐसा करते हैं। मुझे कुछ समय पहले किसी ने एक छोटी लड़की के बारे में बताया जो एक बिल्कुल निजी भाषा में बोलती है जिसे उसके माता-पिता और परिवार के केवल कुछ अन्य सदस्य ही समझ पाते हैं। यह लड़की अँग्रेज़ी बहुत कम बोल पाती है। और कई ऐसे जुड़वाँ बच्चों के भी उदाहरण हैं जो सात साल की उम्र तक एक निजी भाषा बोलते थे जिसे और कोई नहीं समझ पाता था। मेरा ख्याल है कि इस बात के लिखित प्रमाण हैं। परन्तु आम तौर पर बच्चे वही भाषा बोलते हैं जिसे वे औरों से सुनते हैं। और अगर यह भाषा कोई बोली होती है या भाषा का कोई ऐसा रूप जो उसका मानक रूप नहीं होता तो वे उसे ही सीखते हैं। इस बारे में मैं आपसे पूरी तरह सहमत हूँ।

प्रश्नः इस चीज़ के अलावा कि इससे टूटे काँच वाली खिड़कियों की संख्या कम हो जाएगी, क्या आपको लगता है कि कोई ऐसा समाज जहाँ के बच्चे आपके द्वारा सुझाए गए तरीकों से पढ़कर बड़े हुए हों, समकालीन समाज

से कई मायनों में भिन्न होगा?

उत्तरः हाँ। मुझे ऐसा ही लगता है। मुझे कहना होगा कि मेरी राय में ऐसा समाज आज के समाज से कहीं बेहतर होगा। देखिए, मुझे हाल ही में यह बात समझ में आई है, और इससे मुझे बहुत बड़ा धक्का लगा है कि आज शिक्षा के नाम पर स्कूलों में जो चीज़ें हम कर रहे हैं – और "हम" से मेरा मतलब पूरे समाज से है – वे शायद एक घातक सीमा तक बच्चों की आत्मा, उनके चरित्र और उनकी अस्मिता को नष्ट कर रही हैं। मैंने अपनी पुस्तक *हाऊ चिल्ड्रन फेल* में जिन खराब किस्म की बौद्धिक युद्धनीतियों की बात की थी उनसे होने वाली हानि से यह हानि बहुत ज़्यादा गहरी है। यह हानि बौद्धिक होने के साथ-साथ और बहुत कुछ है। ब्रिटेन में एक शख्स हैं आर. डी. लैंग। इनसे आप में से बहुत से लोग परिचित होंगे। वे एक मनोचिकित्सक हैं और स्किज़ोफ्रेनिया के विशेषज्ञ हैं। उनकी एक पुस्तक का नाम है *द पॉलिटिक्स ऑफ एक्सपीरियंस*। मैंने इस पुस्तक को हाल ही में पढ़ा और मैं इससे बेहद प्रभावित हुआ हूँ। इस पुस्तक में उन्होंने एक ऐसी बात का ज़िक्र किया है जिसके बारे में मानसिक उपचार विषय पर मेरे अज्ञान के कारण मुझे पता नहीं था और न ही उस विषय पर मैंने पहले सोचा था। उनके अनुसार जब हम लोगों पर स्किज़ोफ्रेनिया का लेबल लगाकर उनका उपचार करते हैं तो असल में हम उनके "अनुभव को अवैध" घोषित करते हैं। इससे उनका क्या मतलब है? उनका मतलब है कि अपने आपको "स्वस्थ" कहने वाले हम लोग "स्किज़ोफ्रेनिया" वाले "बीमार" लोगों से कहते हैं कि "दुनिया को समझने की तुम्हारी पद्धति, उसको महसूस करने का तुम्हारा तरीका, उसके बारे में सम्प्रेषण का तुम्हारा ढंग, उससे सम्बन्धित तुम्हारी प्रतिक्रियाएँ, सभी गलत, बीमार और पागल हैं। तुम्हें चीज़ों को हमारी तरह से देखना सीखना चाहिए और उनके प्रति हमारी ही तरह प्रतिक्रिया करनी चाहिए। और जब तुम ऐसा करोगे तब हम तुम्हें स्वस्थ और सही मानेंगे और तुम्हें यहाँ से जाने देंगे।" और उन परिस्थितियों में उनको कभी छोड़ा ही नहीं जाता है, क्योंकि उन परिस्थितियों में उनकी हालत कभी ठीक ही नहीं होती है। यह धारणा, किसी दूसरे इंसान से इस तरह का व्यवहार, किसी भी और चीज़ से ज़्यादा घातक है। जब मैंने इसे पढ़ा तो मैं काँप उठा, जिसे फ्रांसीसी लोग "भय की झुरझुरी" कहते हैं, क्योंकि मैंने अकस्मात उस चीज़ को देख लिया जिसके बारे में मैंने पहले कभी सोचा भी नहीं था, कि अधिकांश स्कूलों में, और स्कूल से पहले भी – घरों में भी – बच्चों के प्रति हमारा व्यवहार

मूलतः उनके अनुभवों को अवैध घोषित करता है। हम जो कुछ भी स्कूलों में करते हैं (भले ही हम अच्छी-अच्छी चीज़ों के बारे में उपदेश देते रहें) उससे छोटे बच्चों को हम वास्तव में यह सन्देश देते हैं कि "तुम्हारे अनुभव, तुम्हारी चिन्ताएँ, तुम्हारी उम्मीदें, तुम्हारे भय, तुम्हारी इच्छाएँ, तुम्हारी रुचियाँ सब बेकार हैं। जो चीज़ मायने रखती है वह है केवल *हमारी* रुचियाँ, जो चीज़ *हमें* पसन्द है, और जो *हमने* निर्णय लिया है कि तुम्हें पढ़ना चाहिए।"

मेरी राय में इससे व्यक्ति आध्यात्मिक रूप से अपंग हो जाता है। जो व्यक्ति इससे गुज़रने के बाद भी अपनी अस्मिता, पहचान, इज़्ज़त-आबरू, और स्वाभिमान को बचा पाता है वह सचमुच में एक अद्वितीय इंसान है। सच तो यह है कि जिन बच्चों को मैंने पढ़ाया है — और मैंने केवल अमरीका के चन्द महँगे निजी स्कूलों में ही पढ़ाया है — ये बच्चे निश्चित रूप में अमरीका के सबसे उच्च वर्ग के होंगे। परन्तु इन बच्चों में मुझे उनकी अस्मिता, मूल्यों और इज़्ज़त-आबरू, और स्वाभिमान की कोई गहरी झलक दिखाई नहीं दी। उनकी इस बेहद महत्वपूर्ण सम्पदा को किसी ने चुरा लिया था। मुझे अपने देश में इसके खिलाफ एक प्रतिक्रिया, एक विरोध उठता नज़र आ रहा है। (और मैं आपको बता दूँ कि मैं नौजवानों और क्रान्तिकारी छात्रों और यहाँ तक कि हिप्पियों का भी घोर समर्थक हूँ।) नौजवानों के विरोध की एक बात से मैं दुखी हूँ। और वह यह है कि उनका विरोध आम तौर पर बहुत ध्वंसात्मक है। उनका विरोध ऐसा है जो खुद अपने आपको तबाह कर लेगा। [परन्तु अब 1969 की सर्दियों में मुझे ऐसा नहीं लग रहा। असल में, मुझे लगता है कि नौजवानों का विरोध हमारे समय का सबसे रचनात्मक और आशाजनक कार्यक्रम है।] पर, फिर भी जब मैं उन बच्चों के बारे में सोचता हूँ जिन्हें मैं जानता हूँ तो मुझे लगता है कि वे अपने जीवन का ज़्यादातर समय उस चीज़ को *करते हुए* या उसे *नहीं* करते हुए गुज़ारते हैं जो लोग उन्हें करने को कहते हैं। वे अपना बहुत सारा समय इन बाहरी दबावों से निबटने में खर्च करते हैं। इसलिए उन्हें खुद अपने आपको जानने और समझने का बहुत कम वक्त ही मिल पाता है।

आप पूछ सकते हैं कि क्या यह बात स्कूलों के बारे में हमेशा से ही सच नहीं थी? और इसके उत्तर में मैं कहूँगा कि शायद ऐसा था, परन्तु फिर भी स्कूल हमेशा बच्चों की पूरी ज़िन्दगी नहीं निगल पाते थे। पॉल गुडमैन के अनुसार, पिछली शताब्दी के अन्त तक अमरीका में केवल 6 प्रतिशत

लोग ही हाई स्कूल पूरा कर पाते थे — कॉलेज की बात तो दूर की रही। हमारे देश में 1920 के आसपास भी यह प्रतिशत इससे बहुत अधिक नहीं था। इसलिए बच्चे अपने आपको पहचान पाते थे और अपनी क्षमताओं को समझ पाते थे, और वे इंसान की हैसियत से अपनी अस्मिता और स्वाभिमान से अवगत हो पाते थे। और उनमें से जो लोग पढ़ाई में प्रवीण होते थे, जिन्हें पुस्तकें अच्छी लगती थीं और जो ये सब चीज़ें कर पाते थे, वे कुछ विशेष प्रकार के कामों में लग जाते थे। परन्तु हमारे देश में अब हमने हरेक इंसान को इस विशाल रस निचोड़ने वाली मशीन में झोंक दिया है। और इसके कारण बहुत अधिक बर्बादी हो रही है।

अब मैं उन चीज़ों पर वापिस जाऊँगा जिनके बारे में मैं पहले बातचीत कर रहा था। मुझे लगता है कि नस्लवाद का तनाव, गरीबी की समस्याएँ आदि का निवारण अगर कभी होना है तो इसके लिए हमें ऐसे लोग चाहिए होंगे जिन्हें हमारे मुकाबले में कहीं ज़्यादा खुद से तसल्ली हो। ऐसे लोग जो क्रोध, द्वेष और निराशा से इतना मुक्त हों कि वे दरियादिली और दूरदर्शिता से काम कर पाएँ। आज के ढर्रे से इंसानी नस्ल बहुत आगे नहीं जा पाएगी। मुझे यह नहीं पता कि इस कार्य को करने के लिए हमें कितना समय बख्शा गया है, परन्तु इसमें कोई शक नहीं है कि हमें निकट भविष्य में एक क्रान्तिकारी, एक नए मनुष्य की आवश्यकता है।

प्रश्नः जिस प्रकार की शैक्षणिक व्यवस्था की आप कल्पना कर रहे हैं उसके लिए आप इतनी अधिक मात्रा में शिक्षक कहाँ से लाएँगे?

उत्तरः सामान्य तौर पर मैं कहूँगा कि शिक्षकों को उनके प्रशिक्षण के दौरान वही अनुभव मिलने चाहिए जो हम चाहते हैं कि वे बच्चों को बाद में दें। उन्हें ट्रेनिंग के दौरान अपने ढंग से, स्वयं खोज द्वारा सीखने की उत्तेजना का मज़ा मिलना चाहिए। इस साल मैं शिक्षा के कुछ कोर्स पढ़ाऊँगा — एक हार्वर्ड विश्वविद्यालय में और कुछ कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय में। मैं जो कुछ कह रहा हूँ उसे इन कोर्सों में ठोस रूप में लागू करने का प्रयास करूँगा। मेरे कोर्स में होमवर्क, परीक्षाएँ और अंक नहीं होंगे। मैं छात्रों को संसाधनों की एक सूची दूँगा। यहाँ संसाधनों से मेरा मतलब केवल पुस्तकों से नहीं है। उसमें नियमित रूप से स्कूलों में जाना, लोगों से बातचीत करना और विभिन्न स्थानों पर जाँच-पड़ताल करना शामिल होगा। मैं कहूँगाः अगर तुम इनमें से किसी के भी बारे में और अधिक जानना चाहते हो, तो मैं तुम्हें और बताऊँगा। और यदि इन चीज़ों

के बारे में, जिन्हें तुमने पढ़ा है, या देखा है, या जिन पर शोध किया है, चर्चा करना चाहते हो तो उसमें शामिल होकर मुझे बहुत खुशी होगी। परन्तु खोज तुम्हें खुद ही करनी होगी! देखो, वहाँ कुछ अच्छा काम चल रहा है। बाहर जाकर उसे देखो। मुझे नए शिक्षण को करने का मूल रूप से यही एक तरीका नज़र आता है। यह काम काफी मुश्किल होगा।

[कुछ छात्रों को यह अच्छा नहीं लगा, कुछ ने इस काम को छोड़ दिया, परन्तु कईयों को यह अनुभव काफी महत्वपूर्ण और मज़ेदार लगा।]

– 1968

पत्र

– 1968

प्रिय डॉ. ब्लिस,

... मेरी राय में बच्चे तभी सबसे अच्छा सीखते हैं जब वे खुद किसी चीज़ को सीखना चाहते हैं, जब वे खुद ही निर्णय लेते हैं कि वे उसे कब और कैसे सीखेंगे, जब वे किसी चीज़ को किसी के कहने से नहीं, बल्कि खुद अपनी जिज्ञासा को शान्त करने के लिए सीखते हैं। मुझे लगता है कि अगर हम आज के बोझिल पाठ्यक्रम को आंशिक तौर पर या पूरी तरह से हटा देंगे तो उससे सीखने की प्रक्रिया बहुत बेहतर हो जाएगी। मुझे सीखने की प्रक्रिया में परीक्षाओं, टेस्टों और अंकों आदि की कोई भी उपयोगी भूमिका नज़र नहीं आती है। उल्टा ये सब चीज़ें सीखने की प्रक्रिया में बाधक हैं। स्कूलों में अक्सर बच्चों को उनकी क्षमताओं के

आधार पर अलग-अलग समूहों में बाँट दिया जाता है। मैं इसके पूरी तरह खिलाफ हूँ। मुझे लगता है कि अक्सर शिक्षण ही सीखने की प्रक्रिया में बाधा बनता है — विशेषकर पढ़ने में। मुझे लगता है कि अगर बच्चों को बिल्कुल भी न पढ़ाया जाए तो वे बेहतर रूप से और काफी सरलता से पढ़ना सीख जाएँगे। हमें कोशिश करके स्कूलों में ऐसे लोगों को लाना चाहिए जो पेशे से शिक्षक न हों। बच्चों को ऐसे लोगों के साथ हमेशा रहने से कोई लाभ नहीं होगा जिनकी चिन्ता केवल बच्चे हों। मैं यह भी चाहता हूँ कि बाहर से तमाम लोग स्कूलों में लगातार आएँ और बच्चों के साथ बाहर की दुनिया के बारे में और अपने काम के बारे में बातचीत करें। मैं चाहता हूँ कि बच्चों को अपनी सीख बढ़ाने के लिए स्कूल के बाहर की दुनिया के संसाधनों का उपयोग करने के लिए प्रोत्साहित किया जाए। और इसमें उनकी मदद की जाए। मुझे लगता है कि स्कूलों, बच्चों और शिक्षकों के लिए अब अनिवार्य स्कूली हाज़िरी की कोई उपयोगी भूमिका नहीं बची है। इसलिए इसमें या तो संशोधन करना चाहिए या फिर अनिवार्य स्कूली हाज़िरी को रद्द करना चाहिए। मेरी राय में शिक्षा बच्चों और नौजवानों की दुनिया में प्रवेश करने और उपयोगी कार्य करने में सहायता कर सकती है। परन्तु हमने शिक्षा को उनके रास्ते में बहुत बड़ा रोड़ा बनाकर खड़ा कर दिया है, और हमें इस बाधा को हटाने के तरीके ढूँढने चाहिए। संक्षेप में, किसी भी कार्य को करने के लिए मैं किसी भी प्रकार की मार्कशीट या अन्य किसी भी शर्त के खिलाफ हूँ। मेरी राय में हमें हरेक बच्चे और उसके द्वारा किए जाने वाले किसी भी उपयोगी सामाजिक कार्य के बीच की सभी बाधाओं को हटा देना चाहिए। हम जो कुछ भी कहते हैं उसके द्वारा हम सीखने और जीने को पृथक कर देते हैं, जबकि हमें उन्हें जोड़ने का प्रयास करना चाहिए...

आपका,

जॉन होल्ट

सन्दर्भ ग्रन्थ

शिक्षा

जॉर्ज डेनिसन, द लाइव्स ऑफ चिल्ड्रन *(The Lives of Children)*, रैण्डम हाउस, न्यू यॉर्क, 1969.

जेसन एप्सटीन, द न्यू यॉर्क रिव्यू ऑफ बुक्स *(The New York Review of Books)* में न्यू यॉर्क शहर के स्कूलों के बारे में 6 जून 1968, 10 अक्तूबर 1968, 21 नवम्बर 1968, 13 मार्च 1969 को छपे लेख।

डैनियल फेदर, हुक्ड ऑन बुक्स *(Hooked on Books)*, बर्कले, न्यू यॉर्क, 1968.

जोसेफ फेदरस्टोन, "द प्रायमरी स्कूल रेवोल्यूशन इन ब्रिटेन", द न्यू रिपब्लिक *(The New Republic)*, 10 अगस्त 1967, 2 सितम्बर 1967, 9 सितम्बर 1967.

एड्गर फ्रीडेनबर्ग, द वैनिशिंग एडॉलसेंट *(The Vanishing Adolescent)*, बीकन, बॉस्टन, 1959; डेल, न्यू यॉर्क, 1962.

विलियम एच. ग्रीयर और प्राइस एम. कॉब्स, ब्लैक रेज *(Black Rage)*, बेसिक बुक्स, न्यू यॉर्क, 1969; बैनटम, न्यू यॉर्क, 1969.

नैट हेनटॉफ, अवर चिल्ड्रन आर डाइंग *(Our Children Are Dying)*, वाइकिंग, न्यू यॉर्क, 1966.

जेम्स हेरंडॉन, द वे इट स्पोज़ड् टू बी *(The Way it Spozed To Be)*, साइमन एंड शुसटर, न्यू यॉर्क, 1968.

जॉन होल्ट, हाऊ चिल्ड्रन लर्न *(How Children Learn)*, पिटमैन, न्यू यॉर्क, 1967.

जॉन होल्ट, हाऊ चिल्ड्रन फेल *(How Children Fail)*, पिटमैन, न्यू यॉर्क, 1967; डेल, न्यू यॉर्क, 1967.

हर्बर्ट कोह्ल, 36 चिल्ड्रन *(36 Children)*, न्यू अमेरिकन लाइब्रेरी, न्यू यॉर्क, 1967.

जोनाथन कोज़ोल, डेथ एट एन अर्ली एज *(Death at an Early Age)*, ह्यूटन मिफलिन, बॉस्टन, 1967.

पीटर मारिन, "द ओपन ट्रुथ एण्ड फायरी वेहमेन्स ऑफ यूथ" और "द स्कूल्स"। लोकतांत्रिक संस्थाओं के अध्ययन केन्द्र का प्रकाशन द सेन्टर मैगज़ीन *(The Center Magazine)*, जनवरी 1969.

ए.एस. नील, समरहिल *(Summerhill)*, हार्ट, न्यू यॉर्क, 1960.

जूलिया वेबर, माई कन्ट्री स्कूल डायरी *(My Country School Diary)*, डेल, न्यू यॉर्क, 1969.

मानव मनोविज्ञान और विकास

निम्न किताबें कुछ अलग अन्दाज़ में एक विचार की पड़ताल करती हैं, उसको आगे बढ़ाती हैं और उसकी हामी भरती हैं। यह विचार कि इंसानों में बेहद रचनात्मक और सकारात्मक विकास की ताकतें और प्रवृत्तियाँ होती हैं। और शिक्षा का मकसद यह होना चाहिए कि उन्हें विकास के लिए अधिकतम सम्भावनाएँ प्रदान करे।

एरिक फ्रॉम, मैन फॉर हिमसेल्फ *(Man for Himself)*, होल्ट, राइनहार्ट एंड विंस्टन, न्यू यॉर्क, 1947; फॉसेट्ट, न्यू यॉर्क, 1965.

एरिक फ्रॉम, एस्केप फ्रॉम फ्रीडम *(Escape from Freedom)*, होल्ट, राइनहार्ट एंड विंस्टन, न्यू यॉर्क, 1941; एवन, न्यू यॉर्क, 1965.

एरिक फ्रॉम, टुवर्ड ए साइकोलॉजी ऑफ बीइंग *(Toward a Psychology of Being)*, वान नोस्ट्रैण्ड, न्यू यॉर्क, 1962.

रॉलो मे, मैन्स सर्च फॉर हिमसेल्फ *(Man's Search for Himself)*, नॉरटन, न्यू यॉर्क, 1953; न्यू अमेरिकन लाइब्रेरी, न्यू यॉर्क, 1967.

कार्ल रॉजर्स, ऑन बिकमिंग ए पर्सन *(On Becoming a Person)*, ह्यूटन मिफलिन, न्यू यॉर्क, 1961.

रॉबर्ट रॉसेनथाल, पिगमेलियन इन द क्लासरूम *(Pygmalion in the Classroom)*, होल्ट, राइनहार्ट एंड विंस्टन, न्यू यॉर्क, 1968.

आभार

लेखों को पुनः प्रकाशित करने की स्वीकृति के लिए लेखक निम्न स्रोतों का आभारी है।

ब्रॉडसाइड 2 *(Broadside 2)* से "टू लर्निंग", बॉस्टन, 1968.

द न्यू यॉर्क रिव्यू ऑफ बुक्स *(The New York Review of Books)*, न्यू यॉर्क, 14 अप्रैल 1966 से "ए लिटिल लर्निंग".

द सैटर्डे इवनिंग पोस्ट (*The Saturday Evening Post*), 8 फरवरी 1969 से "स्कूल्स आर बैड प्लेसेस फॉर किड्स".

"द फोर्थ आर — द रैट रेस", द न्यू यॉर्क टाइम्स मैगज़ीन *(The New York Times Magazine)*, 1 मई 1966 से.

"टीचर्स टॉक टू मच", प्रारम्भ में द पी टी ए मैगज़ीन *(The PTA Magazine)* में "डू टीचर्स टॉक टू मच ?" के शीर्षक से अक्तूबर 1967 में छपा था।

"द टिरैनी ऑफ टेस्टिंग", प्रारम्भ में "जॉन होल्ट ऑन टेस्टिंग" नाम से बॉस्टन, मैसाच्युसेट्स में डैन पिंक एण्ड हिज़ फ्रेंड्स ने 1968 में छापा था।

"नॉट सो गोल्डन रूल डेज़" सेंटर मैगज़ीन *(The Center Magazine)* द्वारा जुलाई, 1968 में प्रकाशित।

"मेकिंग चिल्ड्रन हेट रीडिंग", "हाऊ टीचर्स मेक चिल्ड्रन हेट रीडिंग" नाम से सर्वप्रथम रेडबुक *(Redbook)* द्वारा नवम्बर 1967 में प्रकाशित।

"ऑर्डर एण्ड डिसऑर्डर", येल एलुम्नाई मैगज़ीन *(Yale Alumni Magazine)* में सम्पादक के नाम पत्र के रूप में छपा था।

"टीचिंग द अनटीचेबल", सर्वप्रथम हर्बर्ट कोह्ल की किताब टीचिंग द अनटीचेबल *(Teaching the Unteachable)* की भूमिका के रूप में 1967 में द न्यू यॉर्क रिव्यू ऑफ बुक्स *(The New York Review of Books)* में छपा था।

रॉबर्ट थियोबाल्ड द्वारा सम्पादित व डबलडे एंड कम्पनी द्वारा 1968 में प्रकाशित सोश्यल पॉलिसीज़ फॉर अमेरिका इन द सेवेंटीज़ *(Social Policies for America in the Seventies)* से "एज्युकेशन फॉर द फ्यूचर"।

बुक वीक *(Book Week)* 31 अक्तूबर 1965 से "ब्लैकबोर्ड बंगल"।

द न्यू यॉर्क रिव्यू ऑफ बुक्स *(The New York Review of Books)*, 21 दिसम्बर 1967, न्यू यॉर्क से "चिल्ड्रन इन प्रिज़न"।

लाइफ *(Life)* 22 मार्च 1968 से "कॉमिक ट्रुथ ऑन एन अर्जेन्ट प्रॉबलम"।

जॉन होल्ट

जॉन होल्ट का जन्म न्यू यॉर्क में हुआ था। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान वे अमरीकी नौसेना में रहे। बाद में वे विश्व सरकार आन्दोलन से जुड़े और अन्ततः संयुक्त विश्व संघवादियों की न्यू यॉर्क राज्य शाखा के कार्यकारी निदेशक बने। उन्होंने कॉलोरेडो और मैसाच्युसेट्स के विभिन्न स्कूलों में पढ़ाया। वे हार्वर्ड ग्रैज्युएट स्कूल ऑफ एज्युकेशन और कैलिफोर्निया यूनिवर्सिटी, बर्कले में विज़िटिंग लेक्चरर भी रहे। वे होम स्कूलिंग मूवमेंट के अग्रणी प्रवक्ता थे और तमाम वैधानिक संस्थानों के समक्ष बच्चों को घर पर ही पढ़ाए जाने के हक में ठोस साक्ष्य भी प्रस्तुत करते रहे। अपने बच्चों को घर पर शिक्षा दे रहे अभिभावकों के लिए वे *ग्रोइंग विदाउट स्कूलिंग* नामक एक पत्रिका निकालते थे। जॉन होल्ट एक समर्पित चेलो वादक भी थे।

होल्ट ने शिक्षा सम्बन्धी कई पुस्तकें लिखीं, मसलन *हाऊ चिल्ड्रन लर्न, हाऊ चिल्ड्रन फेल, फ्रीडम एण्ड बियॉन्ड, द अण्डर-अचीविंग स्कूल, इंस्टेड ऑफ एज्युकेशन, नेवर टू लेट* और *टीच यॉर ओन*। उनके लेख और समीक्षाएँ *द न्यू यॉर्क रिव्यू ऑफ बुक्स, बुक वीक, लुक* और *पीस न्यूज़* (लन्दन) जैसी पत्रिकाओं में प्रकाशित हुईं।

एकलव्य

एकलव्य एक स्वैच्छिक संस्था है जो पिछले कई वर्षों से शिक्षा एवं जनविज्ञान के क्षेत्र में काम कर रही है।

एकलव्य का मुख्य उद्देश्य है ऐसी शिक्षा का विकास करना जो बच्चे व उसके पर्यावरण से जुड़ी हो, जो खेल, गतिविधि व सृजनात्मक पहलुओं पर आधारित हो। एकलव्य ने अपने काम के दौरान पाया कि स्कूली प्रयास तभी सार्थक हो सकते हैं जब बच्चों को स्कूली समय के बाद घर में भी रचनात्मक गतिविधियों के साधन उपलब्ध हों। किताबें तथा पत्रिकाएँ ऐसे साधनों का एक अहम हिस्सा हैं।

पिछले कुछ वर्षों में एकलव्य ने अपने काम का विस्तार प्रकाशन के क्षेत्र में भी किया है। एकलव्य के नियमित प्रकाशन हैं - मासिक बाल विज्ञान पत्रिका *चकमक*, विज्ञान एवं टेक्नॉलॉजी फीचर *स्रोत* तथा शैक्षिक पत्रिका *संदर्भ*। शिक्षा, जनविज्ञान एवं बच्चों के लिए सृजनात्मक गतिविधियों के अलावा विकास के व्यापक मुद्दों से जुड़ी किताबें, पुस्तिकाएँ तथा सामग्री आदि भी एकलव्य ने विकसित एवं प्रकाशित की है।

एकलव्य ने जॉन होल्ट की ये किताबें भी प्रकाशित की हैं - *बच्चे असफल कैसे होते हैं, Escape from Childhood, बचपन से पलायन, The Under-achieving School*.

ज़ोरदार...मुखर...संवेदनशील।

— लाइफ

बीसवीं सदी के स्कूल पर होल्ट का आक्षेप विस्तृत और शक्तिशाली है, और कायल कर देने वाले चिन्तन और दृष्टान्तों पर आधारित है। इस विषय पर इससे ज़्यादा उत्तेजक किताब मैंने नहीं पढ़ी है।

— क्रिस्टियॅन साइंस मॉनिटर

जॉन होल्ट की पहली दो पुस्तकों — *How Children Fail* (*बच्चे असफल कैसे होते हैं*) और *How Children Learn* (*बच्चे सीखते कैसे हैं*) — ने शैक्षणिक दुनिया को इस क्षेत्र में छपी शायद किसी भी और पुस्तक की बनिस्बत ज़्यादा उत्तेजित किया। उनके इस विचार ने कि पब्लिक स्कूल ऐसे स्थान हैं जो सीखने की प्रक्रिया में बाधा डालते हैं, शिक्षण सम्बन्धी पारम्परिक सोच को झकझोर दिया। क्लासरूम में बच्चों के उत्पीड़न के उनके विवरण ने शिक्षण से जुड़े बहुत से लोगों को विवश किया कि वे प्रशासन और अध्यापन के अपने तरीकों का पुनर्मूल्यांकन करें। यहाँ, *असफल स्कूल* में, होल्ट ने आजकल की शिक्षा की विशेष समस्याओं का निरीक्षण किया है: परीक्षण का उत्पीड़न, कॉलेज के लिए चूहा-दौड़, अनिवार्य उपस्थिति, पढ़ने सम्बन्धी असफलताएँ, तथा शिक्षक जो बहुत ज़्यादा बोलते हैं।

9 788187 171775

एकलव्य

मूल्य: ₹ 135.00